# न्यायिक मार्ग-दर्शिका

## खण्ड 2

*योगः कर्मसु कौशलम् ॥*

सब कार्यों को कुशलता के साथ
करना ही योग है।

**न्यायिक प्रशिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान**
**उत्तर प्रदेश**
ए-1/19, विश्वास खण्ड 1, गोमती नगर, लखनऊ-16

# प्रस्तावना

संस्थान में विभिन्न पाठ्यक्रमों के दौरान दिए गए महत्त्वपूर्ण व्याख्यान तथा कुछ अन्य उपयोगी निबन्ध प्रदेश के सभी अन्य न्यायिक अधिकारियों को सुलभ कराने की दृष्टि से उन्हें न्यायिक मार्ग-दर्शिका के खण्ड 2 के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। यह कार्य संस्थान द्वारा संचालित अनवरत प्रशिक्षण कार्यक्रम का एक महत्त्वपूर्ण अंग है.

मेरे अनुरोध पर सेवानिवृत्त जिला जज डा. मोती बाबू ने व्याख्यानों के सम्पादन व अनुवाद और मुद्रण की देख-भाल का कार्य निःस्वार्थ भाव से किया है. इस सहयोग के लिए संस्थान उनका आभारी है.

मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक न्यायिक अधिकारियों के लिए उपयोगी साबित होगी.

लखनऊ :
2 अक्तूबर, 1988.

*कैलाश नाथ गोयल*
अवैतनिक निदेशक
न्यायिक प्रशिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान

# विषय-सूची


न्यायिक अधिकारी का न्यायालय में व्यवहार एवं आचरण
– न्याय. श्री उमेश चन्द्र श्रीवास्तव 1

न्यायाधीश के दायित्व और व्यक्तित्व के कुछ पक्ष
– न्याय. श्री वी. वी. जोशी 10

न्यायाधीश की आचरण संहिता
– श्री बी. पी. सिंह 48

न्यायाधीश की निर्भीक निष्पक्षता का संरक्षण
– न्याय. श्री बी. के. मेहरोत्रा 50

राजस्व और चकबन्दी मामलों में सिविल न्यायालय की अधिकारिता
– न्याय. श्री कैलाश नाथ मिश्र 63

रिसीवरों की नियुक्ति, अस्थायी व्यादेश, अन्तर्वर्ती आदेश, आदि
– न्याय. श्री कृष्ण चन्द्र अग्रवाल 91

विवादकों की विरचना और पक्षकारों की परीक्षा
– न्याय. श्री नरेन्द्र नाथ मित्तल 106

सिविल वादों का शीघ्र निर्णय
– न्याय. श्री बावन दास अग्रवाल 115

सिविल न्यायालयों की अन्तर्निहित शक्तियां
– न्याय. श्री बृजेश कुमार 123

निर्णयों, आदि में हिन्दी भाषा का प्रयोग
– डा. मोती बाबू 130

नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त
– न्याय. डा. आर. आर. मिश्र 147

दाण्डिक मामलों में साक्ष्य का मूल्यांकन
– न्याय. श्री सिब्ते मोहम्मद मुर्तजा हुसैन 174

# न्यायिक अधिकारी का न्यायालय में व्यवहार एवं शिष्टाचार

—न्यायमूर्ति श्री उमेश चन्द्र श्रीवास्तव
ज्येष्ठ न्यायाधीश, इलाहाबाद उच्च न्यायालय

विधि द्वारा शासित राज्य के तीनों अंगों में न्यायपालिका का स्थान सदैव ऊँचा रहा है, और वह ठीक ही है. ऐसा कोई सभ्य राज्य हो ही नहीं सकता जो मानव-मात्र के प्रति न्याय का आदर्श न रखे. विधि की सर्वोच्चता और गरिमा की रक्षा उन व्यक्तियों की निष्पक्षता, आर्जव[1] और न्यायशीलता द्वारा होती है जो न्याय-प्रशासन करते हैं और उन सब को न्याय देते हैं जो उनका दरवाजा खटखटाते हैं या उनके सामने आते हैं.

विधि और न्याय-प्रशासन के गौरव और गरिमा को भारत में अनादिकाल से सदैव मान्यता दी गई है. प्राचीन भारत में विधि 'धर्म' से अलग न होकर उसका अंग थी और उसमें भीतरी तथा बाहरी अनेक परिवर्तन हुए. रूढ़ियों और परम्पराओं ने उसे स्वरूप प्रदान किया; आचरण के नियमों और दूसरी दुनिया के भय ने उसे ढाला. विदेशियों के आने से विधि पर तथा न्याय-प्रशासन करने वालों पर भी प्रभाव पड़ा, यद्यपि स्थानीय क्षेत्रों में न्याय-प्रशासन करने वाली तत्कालीन न्याय पंचायतों पर उतना प्रभाव नहीं पड़ा. पहले काजी पद्धति आई; और फिर अंग्रेजी शासन और अंग्रेजी विधि के आगमन के साथ धीरे-धीरे संहिताबद्ध विधियां अस्तित्व में आईं. उनके द्वारा स्थापित न्यायालय उसी पद्धति के थे.

**आचार-व्यवहार :-**

प्राचीन भारत में राजा न्याय का स्रोत होता था तथा

---

1. Fairness. (ऋजु = fair से)

बराबर रहा . साथ ही न्याय करने में उसे भी एक प्रकार की आचरण संहिता एवं शिष्टाचार का पालन करना होता था . मनु स्मृति में कहा गया है[1] : "न्याय-आसन में प्रतिष्ठित होकर तथा अपने शरीर, इच्छा, वस्त्र और मन को संयत करके न्यायाधीश अपने इष्टदेवता को प्रणाम करे और फिर विचारण प्रारम्भ करे---चाहे बैठकर और चाहे खड़े होकर---बन्धालंकार में किसी दिखावे के बिना वह विवादियों के मामलों का विचारण करे . राजा को चाहिए कि भले लोगों के लिए न्यायपूर्ण प्रतिकर और बुरे लोगों के लिए न्याय-पूर्ण दण्ड की व्यवस्था करे . न्याय के नियमों का कभी उल्लंघन न करे ."

राजा के अधिकारों और कर्तव्यों में वृद्धि के कारण यह आवश्यक समझा गया कि न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाए, जो अपने बुद्धि-बल का प्रयोग न्याय करने के लिए करें; और राजा ने उच्चतम सत्ता अपने हाथ में रखी . इस प्रकार राजा ने अपने द्वारा नियुक्त न्यायाधीशों को अपनी ही शक्तियां प्रदान कीं . इन नियुक्त न्यायाधीशों के लिए भी आचरण संहिता और शिष्टाचार का विधान था .

**कात्यायन** ने कहा है कि न्यायाधीश को आत्मनियंत्रण, निष्पक्षता, मन की स्थिरता, ईश्वर में आस्था, कर्तव्यनिष्ठा और क्रोधहीनता रखनी चाहिए और सम्यक् जीवन जीना चाहिए . शुक्र ने **शुक्रनीतिसार** में कहा है कि राजा द्वारा नियुक्त न्यायाधीश विधिक प्रक्रिया में दक्ष, बुद्धिमान्, अच्छे आचार-विचार वाले, मृदु-भाषी, मित्र और शत्रु के प्रति निष्पक्ष, सत्यनिष्ठ, विधिज्ञ और क्रियाशील तथा क्रोध, लोभ और तृष्णा से मुक्त होने चाहिए .

---

1. व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ।
मंत्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥ 8-1 ॥
तत्रासीनः स्थितो वापि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् ।
विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥ 8-2 ॥
धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः ।
प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत् ॥ 8-23 ॥

अपने प्रसिद्ध अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने कहा है कि न्यायाधीश विवादों का निर्णय सभी प्रकार के घुमाव-फिराव से बचकर, अविचलित मन से और सभी परिस्थितियों में अडिग रहकर तथा सब के प्रति प्रीतिकर और शालीन रहते हुए करे.

अर्थशास्त्र में न्यायिक अवचार[1] और उसके लिए दण्ड इस प्रकार कहा गया है : "सबसे पहले दण्ड उस न्यायाधीश को दिया जाना चाहिए जो अपने न्यायालय में किसी विवादी को डराए, धमकाए, बाहर करे या उसका बोलना अनुचित रूप से बन्द करे."

इससे प्रकट होता है कि प्राचीन भारत के धर्मशास्त्री न्यायिक आचरण और शिष्टाचार के प्रति पूर्ण जागरूक थे और उन्होंने ऐसी बातें कहीं जो समाज के विकास के साथ धीरे-धीरे प्रतिष्ठित हो गईं. उनके उपदेश आज भी प्रासंगिक हैं और इस विषय पर सभी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं.

मध्यकाल में, विशेषतः मुगल काल में, काजी के नियुक्ति-आदेश में उसे निदेश दिए जाते थे कि वह न्यायी, ईमानदार और निष्पक्ष हो तथा विचारण वह पक्षकारों की उपस्थिति में और न्यायालय के समय में करे. जहां वह कार्य करता हो वहां के किसी व्यक्ति से भेंट लेना उसे मना था और जिस-किसी के द्वारा प्रस्तुत मनोरंजन में शामिल होना भी उसके लिए निषिद्ध था.

न्यायिक अधिकारी के न्यायालय में व्यवहार और शिष्टाचार में बहुत सी बातें आती हैं. जनसामान्य की न्यायपालिका और न्याय-व्यवस्था तथा विधि की महत्ता में आस्था तथा उसके प्रति आदर और भय का भाव, न्यायिक अनुशासन, व्यवहार और नियंत्रण, सब एक दूसरे से जुड़े हैं. न्यायिक अधिकारी की स्थिति तथा उसकी शक्तियों के प्रयोग का ढंग कार्यपालिका के अधिकारियों से भिन्न होते हैं. यह नहीं भूलना चाहिए कि न्यायिक अधिकारियों को कुछ सीमा तक संन्यासी का जीवन व्यतीत करना होता है और उनका जीवन सामा-

1. Misconduct.

जिक होने की अपेक्षा समाज से अलग और अछूता होने का अधिक रहता है . उन्हें अपने व्यवहार और आचरण से न्यायालय की गरिमा बनाए रखनी होती है और यह सुनिश्चित करना होता है कि जन-सामान्य द्वारा उनमें निहित विश्वास उनके व्यवहार तथा कार्य करने के तौर-तरीकों से डिगे नहीं . यह कहना ठीक ही होगा कि किसी समाज को सभ्य मुख्यतः इसलिए माना जाता है कि वह न्याय-पालिका के प्रति आदर और सम्मान प्रकट करता है . न्यायपालिका का यह कर्तव्य है कि उस अंतरस्थ एवं हार्दिक सम्मान और आदर की रक्षा करे जो जनता में न्यायिक अधिकारियों के प्रति है . उन पर उत्तर प्रदेश सरकारी सेवक आचरण नियमावली तो लागू है ही . उन्हें साधारण नियम (सिविल)[1] तथा उच्च न्यायालय द्वारा समय-समय पर निकाले गए परिपत्र भी शासित करते हैं . जिन न्यायिक अधिकारियों को न्याय और विधि का निर्वचन[2] तथा कार्यान्वयन करना-कराना होता है, उन्हें उन नियमों का भी पालन करना होता है जो उनके आचरण और शिष्टाचार के विषय में है . इन विधि-संरक्षकों के जरा से विचलन से जनसाधारण द्वारा उनमें निहित विश्वास हिल जाएगा और यह धारणा बनेगी कि जो व्यक्ति उन नियमों और विनियमों का उल्लंघन कर सकता है जो स्वयं उसके लिए हैं वह वास्तविक और निष्पक्ष न्याय नहीं कर सकता .

**वेशभूषा :–**

न्यायिक अधिकारी को साधारण नियम (सिविल) में लिखे नियमों के अनुसार उचित पोशाक स्वयं तो पहननी ही चाहिए, यह भी देखना चाहिए कि उसके समक्ष उपस्थित होने वाले सभी विधि-व्यवसायी उचित वेशभूषा में हों . उचित वेशभूषा में बाल काढ़ना, कोट और कमीज के बटन लगाना तथा कोट के ऊपर गाउन पहनना भी आएगा . स्वयं उचित पोशाक में होकर ही न्यायिक अधिकारी विधि-व्यवसायियों से कह सकेगा कि वे नियमों के अनुसार पोशाक

1. General Rules (Civil). 2. Interpretation.

पहनें जिससे कि विधि-व्यवसायी के रूप में उनकी पहचान हो और उस रूप में उन्हें सुना जा सके. किन्तु वकीलों से यह बात नम्रता-पूर्वक कहनी है. वेशभूषा की यह मांग विधि की ही नहीं, न्यायालय के तद्विषयक अनुशासन और परम्परा की भी है.

**शिष्टाचार :–**

यद्यपि इस विषय में कोई नियम नहीं है, किन्तु न्याय के आसन के प्रति अभिवादन प्राचीन भारतीय विधान और परम्परा के अनुसार है तथा उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय में भी प्रचलित है. यह एक अच्छी परम्परा है और इस बात को बराबर स्मरण कराती है कि न्यायिक नैतिकता का पालन पूरे दिन किया जाए तथा न्यायाधीश को अधिवक्ताओं और वादकारियों का अधिकाधिक आदर, सम्मान और विश्वास प्राप्त हो.

**समय-पालन :–**

न्यायिक अधिकारियों को न्यायालय में बैठने के तथा लञ्च के लिए विहित समय का पालन कड़ाई से करना चाहिए. ऐसा न करने का अर्थ होगा नियमों का स्वयं उन व्यक्तियों द्वारा उल्लंघन जो विधि के संरक्षक हैं और जिन्हें नियमों का पालन ही नहीं कराना है अपितु उनका उल्लंघन करने वाले सभी व्यक्तियों को दण्ड भी देना है. उन्हें जनता के समय और धन के प्रति पूर्ण न्याय करना चाहिए. न्यायालय में कार्य के लिए विहित समय का पालन न करना, विहित से अधिक समय पर्यन्त लञ्च में रहना और इस प्रकार काम के घण्टे घटा देना जनता के समय और धन के प्रति अन्याय है. उससे जन-सामान्य को न्यायालय के प्रति दृढ़ आस्था, विश्वास और आदरभाव पर भी दुष्प्रभाव पड़ेगा. साधारण नियम (सिविल) के अनुसार अधीनस्थ न्यायालयों के काम का समय प्रातः 10-30 से सायं 4-00 बजे तक है और इस बीच अपराह्न 1-30 से 2-00 तक लञ्च का समय है. उच्च न्यायालय द्वारा जारी किया गया परिपत्र प्रातःकाल तथा लञ्च के बाद देर से बैठने के लिए दण्ड का भी विधान करता है. पीठासीन अधिकारियों को इस प्रकार भी कार्य

नहीं करना है जिससे कि वकीलों और वादकारियों की यह धारणा बने कि वाद-सूची का विनियमन और उसमें परिवर्तन पीठासीन अधिकारी नहीं बल्कि कर्मचारी करते हैं .

**भाषा :–**

वकीलों, वादकारियों और न्यायालय के कर्मचारियों द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली भाषा तीखी नहीं होनी चाहिए . तीखी भाषा का उत्तर भी नम्र और शालीन होने की बजाय तीखा हो सकता है . किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यदि न्यायालय का कोई कर्मचारी या वादकारी मार्ग-भ्रष्ट हो जाए तो उसकी भर्त्सना न की जाए या उसे नियंत्रण में न लाया जाए . वादकारियों के विरुद्ध न्यायालय अवमान अधिनियम[1] के अधीन भी कार्यवाही की जा सकती है . निस्संदेह पीठासीन अधिकारी को ऐसे मामलों में अतिसंवेदनशील नहीं होना चाहिए, और न किसी बात को अपनी बात का प्रश्न बना लेना चाहिए . उसे जब न्यायालय की गरिमा और शिष्टाचार बनाए रखने के लिए विवश होना पड़े तब न्यायालय अवमान अधिनियम के उपबन्धों का आश्रय लेना ही होगा, भले ही वह ऐसा अनिच्छापूर्वक करे . यदि न्यायालय की कार्यवाही में अवरोध उत्पन्न किया जाए तो भारतीय दण्ड संहिता की धारा 228 के साथ पठित दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 345 का भी आश्रय लिया जा सकता है . किन्तु ऐसे मामलों में कार्यवाही सावधानी से करनी चाहिए और तभी करनी चाहिए जब वह वस्तुतः आवश्यक हो जाए तथा अन्य विकल्प या तो उपलब्ध न हो या वह लगभग अनुपलब्ध हो गया हो .

**साक्षी :–**

वर्तमान भारतीय न्याय-व्यवस्था में साक्षियों की स्थिति बहुत दृढ़ नहीं है और न्यायालय का कर्तव्य है कि उन्हें संरक्षण प्रदान करे और देखे कि उन्हें अनावश्यक रूप से तंग न किया जाए और न भ्रान्ति में डाला जाए, और न उनसे सच का झूठ कराया जाए . मुक-

---

1. Contempt of Courts Act.

दमे में तारीख लगाते समय तक कोई उनकी सुविधा की ओर ध्यान नहीं देता . पीठासीन अधिकारियों को देखना चाहिए कि जब साक्षी बयान दे रहा हो तब उसे तंग करने के लिए अनावश्यक और विसंगत[1] जिरह न की जाए . उसका विनियमन और नियंत्रण विधि के अनुसार और चतुराई से किया जाना चाहिए जिससे कि अनावश्यक विवाद और संघर्ष न हो . यद्यपि पीठासीन अधिकारियों को साक्षियों के प्रति शिष्ट होना चाहिए, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जब साक्षी मार्गभ्रष्ट होने लगे अथवा वकीलों से बहस करने लगे अथवा उन पर या न्याय-व्यवस्था पर छींटाकशी करने लगे तो उसकी भर्त्सना न की जाए या उसे उसकी सीमाएं न बताई जाएं, या उसे चेतावनी न दी जाए .

**वकील :–**

जिस प्रकार वकील पीठासीन अधिकारियों के व्यक्तित्व का अध्ययन करते हैं उसी प्रकार पीठासीन अधिकारियों के लिए भी वकीलों के व्यक्तित्व का अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण है . बेंच और बार के सम्बन्ध मधुर होने चाहिए और उसके लिए बराबर प्रयत्नशील रहना चाहिए . उनमें परस्पर आदरभाव होना चाहिए. यद्यपि पीठासीन अधिकारी को चाहिए कि देखे कि लोग उसे आंख न दिखा सकें . उसे अपने समक्ष के मामलों को संतुलित और अविचलित मस्तिष्क से निपटाने के लिए न्यायपूर्वक और निष्पक्षता से, तथा पूर्वग्रह, क्रोध या पक्षपात के बिना अग्रसर होना चाहिए . उसे न नाराज होना चाहिए और न उग्र वकीलों से बहस में उलझना चाहिए. जब परिस्थितियों का तकाजा ऐसा हो तो उसे उस समय आदेश आरक्षित करके दिन के अन्त में चैम्बर में जाने के ठीक पहले सुना देना चाहिए .

अनावश्यक स्थगन[2] आज कुछ वकीलों में बहुप्रचलित हैं; उससे निरुत्साहित किया जाना चाहिए . लम्बा विचारण, साक्षियों को तंग करना, मुकदमे के स्थानान्तरण के लिए आधार पैदा करना, भले ही वह

---

1. Irrelevant. 2. Adjournment.

मुकदमे में विलम्ब कराने के लिए ही हो, ऐसे कार्य हैं जिनके सम्बन्ध में कार्य नम्रता और चतुराई से, किन्तु निर्भय होकर, करना चाहिए. पीठासीन अधिकारियों को यह नहीं सोचना चाहिए कि वे असहाय स्थिति में हैं और धौंस-पट्टी का मुकाबला नहीं कर सकते.

यदि पीठासीन अधिकारी की यह ख्याति हो जाए कि वह निष्पक्ष, न्यायी, ईमानदार, पूर्वग्रह-रहित[1], प्रतिकूल धारणा और हित-बद्धता से रहित, निस्संग, और किसी एक वर्ग या कोटि के वादकारियों या वकीलों के किसी समुदाय की ओर न झुकने वाला है तो उसे न्यायालय की कार्यवाही पर नियंत्रण रखना और व्यवस्था बनाए रखना अधिक आसान हो जाता है.

पीठासीन अधिकारी को चाहिए कि न्यायालय में ऐसी कोई बातचीत न करे जो कि मुकदमे से असंबद्ध और हल्की-फुल्की या विसंगत हो. बेंच और बार में वाक्पटुता का आदान-प्रदान तो होता ही रहता है. किन्तु पीठासीन अधिकारी का उत्तर इस प्रकार का होना चाहिए जो दूसरे व्यक्ति को चुभे नहीं और प्रतिकूल प्रतिक्रिया भी न हो.

पीठासीन अधिकारी को चाहिए कि मुकदमे में सुनवाई निष्पक्ष रूप से और पूरी तौर पर करे. उसे बेसब्री नहीं दिखानी चाहिए; और न कोटा पूरा करने की दृष्टि से जल्दबाजी से कार्य करना चाहिए. किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि समय अनावश्यक रूप से नष्ट करने दिया जाए. संयम और न्यायिक अनुशासन ऐसे प्रत्येक न्यायिक अधिकारी के लक्ष्य होने चाहिए जिसे न्यायिक औचित्य से विचलित नहीं होना है. न्यायिक अनुशासन और औचित्य से ही वह सफल न्यायिक अधिकारी बनता है और सभी प्रकार के विरोध और विवाद से बचता है.

सिविल न्यायालय में सर्वाधिक विवाद तब होता है जब व्यादेश[2] का कोई मामला आता है. तत्पश्चात् आते हैं अधिकारिता,

---

1. Free from bias.
2. Injunction.

मूल्यांकन तथा न्यायालय फीस की अदायगी के प्रश्न . जब ऐसे मामले में बहस हो तो बड़े संयम से काम लेना चाहिए . इसी प्रकार फौजदारी के मामलों में जमानत के आवेदन पर बहस के साथ-साथ उसे मंजूर करने के लिए आग्रह भी होता है और तत्पश्चात् उससे इंकार से कभी-कभी अभूतपूर्व दृश्य उपस्थित हो सकता है . किसी पक्षकार द्वारा मामले को स्थगित कराने का प्रयत्न, जो इधर अधिक बढ़ता जा रहा है, एक अन्य बात है जिसके सम्बन्ध में विशेष ध्यान और सावधानी अपेक्षित है .

– [उ. प्र. न्यायिक प्रशिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान में 11.9.1987 की वार्ता से]

---

उपस्थानगतः कार्यार्थिनामद्वारासंज्ञं कारयेत् ।
दुर्दर्शो हि राजा कार्याकार्यविपर्यासमासन्नैः
कार्यते । तन प्रकृतिकोपमरिवर्गं वा गच्छेत् ॥

– अर्थशास्त्र 1-19 ॥

राजा/न्यायाधीश को न्यायालय में ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि वादकारियों को अधिक प्रतीक्षा न करनी पड़े, क्योंकि वादकारी का राजा/न्यायाधीश से सम्पर्क न हो पाने की स्थिति में आस-पास के लोग उचित-अनुचित में गड़बड़ी उत्पन्न कर देते हैं, जिससे प्रजा में शासन के प्रति क्षोभ उत्पन्न होता है और राज्य चला जाता है ।

---

# न्यायाधीश के दायित्व और व्यक्तित्व के कुछ पक्ष

– न्यायमूर्ति श्री वी. वी. जोशी
सेवानिवृत्त न्यायाधीश, बम्बई उच्च न्यायालय

हमने आज की वार्ता के लिए विषय चुना है "न्यायाधीश के दायित्व और व्यक्तित्व के कुछ पक्ष." हमारी राय में यह विषय न्यायिक सेवा में प्रवेश करने वाले व्यक्ति के लिए महत्त्वपूर्ण है जिससे कि वह आगे चलकर सही प्रकार के न्यायिक अधिकारी के रूप में विकसित हो सके. विधि के पूर्व-उदाहरणों, सिद्धान्तों, अधिनियमितियों और न्यायिक सिद्धान्तों के विषय में न्यायाधीश को इतनी अधिक मात्रा में सामग्री मिल जाती है कि वह उनसे भ्रान्त भी हो सकता है. किन्तु उचित व्यवहार, औचित्यों, प्रशासन और अधीनस्थ कर्मचारियों के प्रति व्यवहार के विषयों पर न्यायाधीश को बहुत कम सहायता मिलती है. सामान्यतः उच्चस्थ अधिकारी यह करता है कि पहले तो न्यायाधीश की इन विषयों में गलती निकालता है और बाद में उसे उस विषय में उपदेश देता है. जिस न्यायाधीश की गलती निकाली जाती है वह उस समय ऐसी मानसिक अवस्था में नहीं होता कि धैर्य और आवेगहीनता के साथ उस सलाह को सुने. उस समय तो वह भर्त्सना से व्यथित होता है. उसके अहम् को ठेस लगी होती है और वह मानसिक विक्षोभ की स्थिति में होता है. ऐसी दशा में प्रायः उच्चस्थ के उपदेश या परामर्श पर ध्यान नहीं दिया जाता. अतः हमने यह निश्चय किया कि एक व्यापक वार्ता में उन बातों का समावेश करें जो संभवतः आपके न्यायिक कार्यकाल में उपयोगी साबित होंगी. इस प्रकार आपको अवसर मिल रहा है कि इन प्रश्नों पर आवेग-रहित ढंग से और दूसरों के दृष्टिकोण से विचार करें, और

वह भी किसी भावुकता के बिना.

2. जब मैं अपने न्यायिक कार्यकाल के चौबीस वर्ष की कच्ची उम्र में प्रारम्भ पर दृष्टिपात करता हूं तब अपने कुछ अनुभव अब भी उभर आते हैं. पहले कुछ मास मैं बहुत उलझन अनुभव करता रहा. यह विचित्र लगता था कि वयोवृद्ध और अनुभवी ज्येष्ठ अधिवक्ता नई आयु के न्यायाधीश के समक्ष नमन करके आदर दर्शित करें. दूसरी उलझन इस बात में होती थी कि मैं पांच-पांच हजार रुपयों की डिक्रियां खुल कर दे रहा था जबकि स्वयं मेरा वेतन एक मास के कठिन श्रम के बाद 180 रुपए मात्र था. अपनी स्थिति पर गर्व की अनुभूति के स्थान पर मुझे तो कुछ लज्जापूर्ण उलझन होती थी. किन्तु तीन-चार मास में ही मैंने उस पर काबू पा लिया. आप सभी तो उस स्थिति से बहुत आगे आ चुके हैं. किन्तु फिर भी मैं उसका उल्लेख इसलिए कर रहा हूं कि चित्र के दूसरे पक्ष को प्रमुखता मिल सके. विचार कीजिए कि वयोवृद्ध, अनुभवी और ज्येष्ठ अधिवक्ताओं को ऐसे नवयुवक कच्चे न्यायाधीश के बारे में क्या अनुभूति होगी, जो उनकी दृष्टि में न विधि जानता है और न प्रक्रिया. फिर भी वे प्रायः चुपचाप सहन करते हैं. अतः प्रत्येक न्यायाधीश को अपने पूरे न्यायिक कार्यकाल में अपनी कमियों का आभास रहना चाहिए और उसे गर्व नहीं बल्कि नम्रता अपनानी चाहिए. इस बात पर जोर देने के लिए हम न्यायाधीश-अधिवक्ता संबंध के परिहासात्मक पक्ष विषयक एक पुस्तक से वाक्पटुता का एक उदाहरण लेते हैं : एक ज्येष्ठ अनुभवी अधिवक्ता एक नए नवयुवक न्यायाधीश को एक विधि की बात हृदयंगम कराने का भरसक प्रयत्न कर रहे थे; किन्तु स्पष्ट था कि न्यायाधीश उस बात को समझ नहीं पा रहे थे, और ऐसा मुख्यतः स्वयं उनकी कमियों के कारण था. अधिवक्ता में क्षोभ के भाव व्यक्त होने लगे. न्यायाधीश ने अधिवक्ता से एक विचित्र खीझ के साथ पूछा : क्या आप न्यायालय के प्रति अपना अवमान प्रकट करने का प्रयत्न कर रहे हैं ? चतुर अधिवक्ता ने अत्यंत आदरपूर्वक झुक कर उत्तर दिया : श्रीमान्, मैं तो इसके विपरीत उसे

छिपाने का पूरा प्रयत्न कर रहा हूं .

3. जैसे-जैसे नए न्यायाधीश का अनुभव बढ़ता जाता है वह अपने नए पद और उसकी अपेक्षाओं के अनुरूप बनता जाता है . पहले एक-दो वर्ष न्यायाधीश उत्साह और सावधानी के साथ ईमानदारी से और श्रमपूर्वक काम करता है और दिन-रात लगा रहता है . कुछ दिनों में उसे सरल मार्ग अधिक स्वाभाविक लगने लगता है और वह अपने पद का आनन्द लेने में लग जाता है, यद्यपि वह दिखावा सतर्क और ईमानदारी से काम का रखता है . कुछ समय बाद ही वह चिन्ता-मुक्त विश्रान्ति की स्थिति में आ जाता है जिसमें उसका पद बासी रोटी के समान हो जाता है और वह अपेक्षित श्रम क्रमशः बंद कर देता है . अब जब वह सरल मार्ग अपना लेता है और लोग उसे सहन करने लगते हैं तब वह और आगे बढ़कर चिन्तामुक्त लापरवाही की स्थिति में आ जाता है कि किसी प्रकार काम घिसटता रहे . उसके कार्य का स्तर और उसकी माला गिर जाती है . निर्णय-लेखन भी पिछड़ जाता है . निर्णय/आदेश लिखने के लिए फाइलों का अम्बार लगने लगता है . यहां उसे एक सरल उपाय यह दिख सकता है कि बेईमानी का रास्ता अपनाले . हताश होकर वह निर्णयों पर पहले की तारीखें डाल सकता है . यह वह अधोगामी सरल मार्ग होता है जिस पर न्यायिक अधिकारी प्रायः फिसलने लगता है, सिवाय उस दशा के जबकि वह सावधान हो जाए और यथासमय अपने को रोक ले .

4. ऐसा पतन बिल्कुल गलत और अवाञ्छनीय है . न्यायाधीश बनने पर कुछ आत्मसंयम आवश्यक होता है और यह संयम न्यायाधीश के पूरे कार्यकाल पर्यन्त बना रहना चाहिए . यह संयम या अनुशासन होता क्या है ? सरल शब्दों में "अनुशासन" का अर्थ है आचरण और व्यवहार के नियमों का कड़ाई से पालन करना . ये आचरण और व्यवहार के नियम किसी व्यक्ति द्वारा स्वयं अपने ऊपर लागू किए गए हो सकते हैं, या वे किसी विशिष्ट संस्कृति, सभ्यता या समाज में पीढ़ी-दर-पीढ़ी परम्परा से आए हो सकते हैं . किन्तु यह आवश्यक है कि वे नियम स्वस्थ और उचित हों

और सबके लिए फायदाप्रद हों . अनुचित और गलत नियमों से अनुशासन स्थापित नहीं किया जा सकता . उदाहरणार्थ, चोरों का कोई समाज अपने सदस्यों पर यह नियम लागू कर सकता है कि प्रत्येक सदस्य को प्रतिदिन एक चोरी करनी चाहिए . ऐसे नियम का पालन उचित अनुशासन नहीं कहा जा सकता, भले ही चोरों का वह समाज उसे अपना आंतरिक अनुशासन माने . विभिन्न समाजों में और एक ही समाज के विभिन्न क्षेत्रों में अनुशासन की प्रकृति भिन्न-भिन्न हो सकती है . उदाहरणार्थ, पश्चिमी देशों में स्त्री-पुरुषों का सार्वजनिक रूप से चुंबन बहुप्रचलित है; किन्तु हमारे देश में ऐसा नहीं होता . हमारे देश में यह अनुशासन हमारी संस्कृति की पृष्ठभूमि में पीढ़ी-दर-पीढ़ी परम्परा से आया है . परम्परागत नियम को मानने के बाद उसका कड़ाई से पालन करना "अनुशासन" है; जबकि उसका उल्लंघन अनुशासनहीनता है . विभिन्न वृत्तियों की आवश्यकतानुसार उनके नियम अलग-अलग हो सकते हैं . प्रत्येक व्यक्ति का अपनी वृत्ति वाले नियमों का पालन करना अनुशासन है, जबकि उनका उल्लंघन करना बहुधा अनुशासनहीनता होगा . इस प्रकार, न्यायाधीश का अनुशासन गायक, शिक्षक और चिकित्सक के अनुशासन से भिन्न हो सकता है . जैसे हमारे क्रियाकलाप शारीरिक भी होते हैं और मानसिक या बौद्धिक भी उसी प्रकार से हमारा अनुशासन भी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक हो सकता है . दुखी की सहायता करना, सबसे मृदु और मीठा बोलना शारीरिक क्रिया-कलाप संबंधी नियमों के उदाहरण हैं और उनका बराबर कड़ाई से पालन करना शारीरिक अनुशासन रखना है . अनुभूति मस्तिष्क की बात है . इस प्रकार सभी के लिए प्रेम और स्नेह रखना, किसी से घृणा न करना मानसिक क्रियाकलाप के नियम हैं . उनका बराबर कड़ाई से पालन करना मानसिक अनुशासन रखना है . चिन्तन बौद्धिक कृत्य है . अतः अच्छी बातें सोचना तथा बुरी बातें न सोचना बौद्धिक व्यवहार के नियम हैं और उनका बराबर कड़ाई से पालन करना बौद्धिक अनुशासन रखना होगा . यदि आप धूम्रपान करते हैं तो धूम्रपान न

करने का संकल्प करना और आजीवन उस संकल्प को निभाना उचित अनुशासन बनाए रखना होगा; किन्तु धूम्रपान न करने का बार-बार संकल्प करना और फिर बारम्बार धूम्रपान करने लगना अनुशासन-हीनता का ज्ञापक है . हमारे एक जिला न्यायाधीश थे जो निरन्तर धूम्रपान करते रहते थे . वह कहा करते थे : "धूम्रपान छोड़ना बहुत आसान है . मैं तीन सौ बार ऐसा कर चुका हूं ." यह अनुशासन-हीनता का ही उदाहरण है .

5. अब हम विषयान्तर से लौट कर अपने मुख्य विषय पर आएं . जैसा कि मैंने बताया, इस आत्मसंयम को लागू करना प्रारम्भ में कठिन और भारी लग सकता है; किन्तु यदि प्रारम्भिक वर्षों में उसका कड़ाई से पालन किया जाए तो स्वतः लागू किया गया आत्म-संयम जीवन-चर्या ही बन जाता है, स्वभाव सा बन जाता है, और फिर वह किसी चेतन प्रयास के बिना पूरे न्यायिक कार्यकाल में बराबर चलता रहता है .

6. इस आत्मसंयम की प्रकृति क्या है? उसे कुछ मोटे-मोटे शीर्षकों में बांटा जा सकता है . उसमें सर्वप्रथम महत्त्व का है न्याया-लय के कार्य में समय का पालन करना और न्यायालय के पूरे समय काम करना . नया न्यायाधीश अपना कार्य प्रायः जिला मुख्यालय में प्रारम्भ करता है, जहां उससे ज्येष्ठ या वरिष्ठ अनेक न्यायिक अधि-कारी होते हैं . वह पंक्ति में सबसे पीछे होता है . स्वभावतः नया न्यायाधीश समय पर न्यायालय आता है, समय पर अपना न्याय-कार्य प्रारम्भ करता है और पूरे दिन कार्य करता है . इस अनुशासन का पालन करने की शक्ति उसे अपने प्रारम्भिक उत्साह से मिलती है और उससे भी अधिक महत्त्व का होता है वरिष्ठों द्वारा भर्त्सना का भय . दो-तीन वर्ष बाद न्यायाधीश बाहर की किसी तहसील को स्थानान्तरित हो जाता है . वहां कोई न्यायिक अधिकारी नहीं होता जो देखे कि न्यायाधीश समय पर न्यायालय आता है या नहीं और पूरे समय काम करता है या नहीं . प्रारम्भ में न्यायाधीश अनुशासन का यथेष्ट

पालन करता रहता है . ऐसा वह पिछले अभ्यास के कारण करता है, न कि अनुशासन के किसी चेतन प्रयासवश . शीघ्र ही वह अनुभव करता है कि उसे इस विषय में बहुत कड़ाई की आवश्यकता नहीं है और इससे कोई खास अंतर नहीं पड़ेगा कि वह न्यायालय कुछ मिनट देर से पहुंचे या वहां से कुछ पहले चला जाए; उस पर नजर रखने वाला तो कोई है नहीं . और इस प्रकार प्रारम्भ में बिना किसी आशय के और आकस्मिक रूप से विचलित होकर वह शनैः शनैः न्यायालय देर से पहुंचने की और बन्द होने के समय के पहले उठ आने की एक आदत बना सकता है . उसे देखने और शिकायत करने के लिए है ही कौन ? कर्मचारी और वादकारी तो साहस ही नहीं कर सकते; और अधिवक्तागण इस विषय में उदासीन रहते हैं . बल्कि न्यायाधीश का देर से आना उन्हें अधिक अनुकूल पड़ता है क्योंकि मुवक्किलों, वादकारियों और घरेलू कार्यों के दबाव से वे रोजाना प्रातःकालीन अल्प समय में वैसे ही त्रस्त रहते हैं . इस प्रकार सुई कठोर कर्तव्य-पालन से जानते-बूझते कर्तव्य-उपेक्षा की ओर घूम जाती है .

7. आप ही विचार कीजिए कि क्या यह स्थिति ठीक है . न्यायाधीश को समझना चाहिए कि जहां उस पर प्रतिदिन नजर रखने के लिए कोई न हो वहां उसका अपने प्रति और वादकारियों के प्रति यह दायित्व अधिक हो जाता है कि समय का पालन करे . आखिर वह न्यायालय का पीठासीन अधिकारी है और विश्वास तथा उत्तरदायित्व के पद पर आसीन है जो अपने अधीनस्थ सभी कर्मचारियों और बार पर भी नियंत्रण रखता है . उस निर्धन वादकारी का विचार कीजिए जो अपने मामले की पैरवी के लिए मीलों दूर से पैदल या बैलगाड़ी या बस द्वारा न्यायालय आया है . वह अपने मामले के लिए आया है जिसके लिए उसने अधिवक्ता को फीस के रूप में तथा शासन को न्यायालय फीस के रूप में काफी राशि दी है . क्या ऐसे वादकारी का समय व्यर्थ का होता है जिसे न्यायाधीश न्यायालय जाने के बंपू दैनिक समाचार-पत्र पढ़ने में या गपशप में बरबाद कर दे ? क्या आधे

घण्टे की देरी कोई बात ही नहीं है ? और फिर न्यायाधीश की अधीनता में काम करने वाले कर्मचारियों का क्या होगा ? यदि चपरासी या अहलमद या पेशकार न्यायाधीश के पहुंचने के भी 15 मिनट बाद न्यायालय पहुंचे तो प्रतिदिन देर से न्यायालय आने वाला न्यायाधीश किस मुंह से उसे डांट सकता है ? ऐसे न्यायाधीश का अपने कर्मचारियों पर नियंत्रण ढीला हो जाना स्वाभाविक है . वह न्यायाधीश उनकी नजरों से गिर जाएगा, भले ही वे उस बात को प्रकट न करें . आचरण उपदेश से बेहतर होता है . न्यायाधीश के अपने कर्मचारियों में अनुशासन रखने का एकमात्र मार्ग यही है कि स्वयं न्यायाधीश समय, सत्यनिष्ठा और ईमानदारी का कड़ाई से पालन करे .

8. न्यायाधीश को अपना कार्य पूरी रुचि के साथ करना चाहिए, यंत्रवत् नहीं . अनेक न्यायाधीश सिविल वादों में विवाद्यकों के स्थिरीकरण[1] के लिए यह कार्य-पद्धति अपना लेते हैं कि दोनों पक्षों के अधिवक्ताओं से कहते हैं कि वे उस तारीख को परस्पर सहमति से विवाद्यक दे दें . हमारी समझ में यह कर्तव्य का अनुचित प्रत्यायोजन[2] है जो न्यायाधीश की कर्तव्योपेक्षा की कोटि में आता है . अपना कार्य करने के लिए न्यायाधीश ही बेहतर प्रशिक्षित होता है . विवाद्यक बनाने के लिए उसे अभिवचनों[3] की सावधानी से समीक्षा करनी होती है . विवाद्यक अति-व्यापक नहीं होने चाहिए कि एक ही प्रश्न एक से अधिक विवाद्यक में आ जाए; और न एक ही प्रश्न पर दो अनुकल्पी[4] विवाद्यक होने चाहिए जिनमें एक सबूत का भार एक पक्षकार पर डाले और दूसरा दूसरे पक्षकार पर . ऐसे मामलों में यह देखना आवश्यक होता है कि सबूत का प्रारम्भिक भार किस पर रहेगा . अधिवक्ताओं को इस विषय में अधिक अनुभव नहीं होता. विवाद्यकों की रचना ऐसा कर्तव्य नहीं है जिसे वकीलों को सौंपकर

1. Settlement of issues.
2. Delegation.
3. Pleadings.
4. In the alternative.

स्वयं न्यायाधीश उपेक्षा बरते. वह वाद का एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रम होता है क्योंकि मामले में आगे का विवाद बनाए गए विवाद्यकों पर साक्ष्य तक सीमित हो जाता है. यदि इस अवसर पर कोई त्रुटि आ जाती है तो वह मामले के लिए घातक भी हो सकती है.

9. कार्य का दूसरा चरण जिस पर न्यायाधीश रुचि लिए बिना यंत्रवत् काम कर सकता है, मौखिक साक्ष्य लिखने का है. अनेक न्यायाधीश मामले का पर पर विस्तृत अध्ययन किए बिना मौखिक साक्ष्य लिखना प्रारम्भ कर देते हैं. उस दशा में न्यायाधीश को विवाद की बाबत कुछ पता नहीं होता. वह यह मानकर चलता है कि साक्ष्य लिख लेने के बाद निर्णय लिखते समय वह मामले का सावधानी से अध्ययन कर लेगा. यह दृष्टिकोण गलत है. अभिवचन, दस्तावेज, विवाद्यक आदि देखकर मामले का सावधानी से अध्ययन किए बिना न्यायाधीश वस्तुतः इस स्थिति में नहीं होता कि मौखिक साक्ष्य ठीक से लिखे. यदि इस प्रकार वह तैयार नहीं होगा तो वह अधिवक्ताओं द्वारा साक्षी की मुख्य परीक्षा और प्रतिपरीक्षा में पूछे गए प्रश्नों का भाव नहीं समझ सकेगा. वह न तो अधिवक्ताओं पर नियंत्रण रख सकेगा और न जिरह को ही सुसंगत बातों तक सीमित रख सकेगा. ऐसे मामलों में न्यायाधीश टेप रेकर्डर की भांति कार्य करता रहेगा. वह कही गई प्रत्येक बात निष्ठापूर्वक लिखता जाएगा और अनावश्यक सामग्री को छोड़ नहीं सकेगा. इस प्रकार वह बहुत सा कूड़ा इकट्ठा कर लेगा, जिसमें से अनावश्यक सामग्री निकालना और भी भ्रान्ति और कठिनाई का विषय हो जाएगा. यदि साक्षी की मुख्य परीक्षा और प्रतिपरीक्षा में किसी वस्तुतः महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर कोई कमी हो तो भी न्यायाधीश वह बात नहीं जान पाएगा और न ही वह स्वयं प्रश्न पूछ कर अभिलेख में आवश्यक सामग्री ला पाएगा.

10. इन व्यावहारिक कठिनाइयों के अतिरिक्त यह भी है कि यदि न्यायाधीश अपने कार्य में पूरी रुचि नहीं लेता तो आखिर वह है किस लिए? निश्चय ही न्यायाधीश का कार्य तर्क और बुद्धि वाला होता है, केवल श्रम का नहीं. क्या न्यायाधीश का वादकारी के प्रति

यह कर्तव्य नहीं होता कि उसके मामले में अपने मस्तिष्क का प्रयोग बुद्धि और युक्ति के साथ करे ? न्यायिक कार्य न्यायाधीश का जीवन भर का कार्य होता है, जो उसने स्वयं चुना है. अतः न्यायाधीश को अपने कर्तव्यों का निर्वहन समर्पण की भावना से करना चाहिए. न्यायाधीश के रूप में उसका भविष्य पूर्णतः उस दक्षता पर निर्भर करता है जिससे वह काम करता है और जिसकी परख अनेक अपीलीय स्तरों पर होती है. हमारी दृष्टि में तो न्यायाधीश के लिए यह आवश्यक है कि अपने कार्य को नीरस श्रम से उठाकर उपासना के उच्चतर स्तर पर पहुंचा दे. कार्य को उपासना के स्तर पर पहुंचाने के लिए यह आवश्यक है कि मन और बुद्धि का प्रयोग ईमानदारी से और निष्ठा के साथ किया जाए. ईश्वर के चरणों में समर्पण की भावना से अपने भरसक श्रेष्ठतम कार्य करना ही उपासना है. मुझे एक छोटी कहानी याद आती है, जो मैंने अंग्रेजी साहित्य में वर्षों पहले पढ़ी थी. पेरिस में एक बाजीगर था जो सरकस में काम करता था और सरकस के प्रत्येक शो में छल्ले, गेंदें आदि अनेक वस्तुएं एक-साथ घुमाकर बाजीगरी दिखाता था. वही उसकी जीवन-चर्या थी. उसी में वह सर्वाधिक दक्ष था. वही उसका श्रेष्ठतम कृतित्व था. एक दिन प्रातः काल एक पांचवर्षीय बालक ने गिरजे के जरा से खुले दरवाजे से झांक कर देखा कि बाजीगर बाजीगरी दिखा रहा है और अनेक गेंदें एक साथ घुमा रहा है; यह कार्य वह ईसामसीह की मां मरियम की संगमरमर की मूर्ति के सामने उस अन्यथा खाली गिरजे में कर रहा है. बाजीगर अपना कार्य पूर्ण कौशल से व इस भावना से कर रहा था कि वह मरियम के चरणों में नैवेद्य है. वह अपना कार्य इतनी निष्ठा और एकचित्तता से कर रहा था कि उसके माथे और गालों से पसीना बहने लगा और उसकी दृष्टि अवरुद्ध हो गई. झांकते हुए छोटे से बालक ने देखा कि मरियम की संगमरमर की मूर्ति ने अपनी ओढ़नी का पल्ला उठाकर बाजीगर के मुंह से पसीना पोंछ दिया; किन्तु उसे इसका आभास हो नहीं हुआ और वह अपने कार्य में पूर्ववत् लगा रहा. समर्पणपूर्वक कर्तव्य-पालन का परिणाम ऐसा ही होता है. यदि न्या-

याधीश ऐसी भावना से काम करे तो उसे अपने कार्य से बड़ी आत्म-तुष्टि की अनुभूति होती है.

11. इन प्रारम्भिक और सामान्य बातों के बाद हम न्यायाधीश के जीवन के विभिन्न पहलुओं के कुछ विवरणों पर विचार करें.

12. न्यायाधीश का प्रथम कर्तव्य उन वादकारियों के प्रति होता है जो उसके पास अपना विवाद उसके द्वारा निपटवाने के लिए आते हैं. न्यायाधीश का अस्तित्व ही वादकारियों के लिए है और वही न्यायाधीश की चर्चा के मुख्य विषय होते है. न्यायाधीश के पद का सृजन उन्हीं के फायदे के लिए किया गया और न्यायाधीश को उन्हीं की सेवा करनी है. उन्हीं के लिए न्यायाधीश को वेतन दिया जाता है. वादकारियों के अभाव में न्यायाधीश के पद की या उसकी स्वयं की भूमिका कुछ नहीं रह जाती. यदि ऐसा हो जाए कि सभी लोग ईमानदार और न्यायी हो जाएं, परस्पर विवाद न करें या उन्हें अन्य व्यक्ति का आश्रय लिए बिना स्वयं निपटा लें, यदि समाज कभी इतना स्वच्छ और पूर्ण हो जाए तो न्यायालयों और न्यायाधीशों की आवश्यकता ही नहीं रह जाएगी. किंतु ऐसा सोचना भी एक दुराशा मात्र है. स्वभावतः न्यायाधीश का प्रथम कर्तव्य वादकारियों के प्रति होता है. अब हम देखें कि वादकारी न्यायाधीश से क्या आशा करता है. वह चाहता है कि जो विवाद वह न्यायाधीश के समक्ष लाया है उसका वह ईमानदारी और निष्पक्षता से न्यायसंगत निर्णय करे. वादकारी की स्थिति पर विचार कीजिए. वस्तुतः उसकी स्थिति एक रोगी की होती है, ऐसे रोगी की जो सामाजिक रोग से ग्रस्त है. वह औषधालय जाने वाले शारीरिक रोगी की भांति न्यायालय आता है कि उसके रोग का उपचार कर उसे ठीक कर दिया जाए कि वह रोग-मुक्त हो जाए; उसे आराम हो जाए. स्वभावतः वादकारी को वैसे ही सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार की आवश्यकता होती है जैसा कि एक अच्छा चिकित्सक रोगी के प्रति करता है. वादकारी एक पीड़ित व्यक्ति होता है. दो वादकारी पक्षों में से एक वस्तुतः दोषी होता है;

वह पीड़क होता है, जबकि दूसरा पक्ष पीड़ित होता है. कुछ मामलों में यह भी हो सकता है कि दोनों को एक-दूसरे का पीड़क कहा जाए. उन्हें परस्पर उचित स्थिति में लाना ही उनके मामले में न्याय करना है. यह बहुधा सरल नहीं भी हो सकता है. न्यायाधीश को अनेक संश्लिष्ट औपचारिकताएं बरतनी पड़ती हैं. उसे कोमल न्यायिक हाथों द्वारा तथ्यों और साक्ष्य के ताने-बाने में से फालतू डोरे निकालने होते हैं और प्रयत्न करके यह पता लगाना होता है कि वस्तुतः बीमारी क्या है; और फिर उसे इस प्रकार दूर करना होता है कि पक्षकारों को यथासंभव कम से कम हानि हो. यह एक नाजुक काम होता है जिसके लिए उससे कम कौशल की आवश्यकता नहीं होती जितना कि किसी शल्य-चिकित्सक से किसी व्यक्ति का पीड़ादायी गहरा फोड़ा निकालने के लिए अपेक्षित होता है.

13. इस संश्लिष्ट न्यायिक प्रक्रिया में न्यायाधीश को देखना होता है कि वह वास्तविक न्याय करने के लिए उपस्थित है. वह न्याय-व्यवस्था रूपी सर्कस में होने वाली कलाबाजों का पर्यवेक्षण करने वाला रिंग मास्टर मात्र नहीं है. उसका कर्तव्य है कि देखे कि न्याय नियमों, प्ररूपों और औपचारिकताओं के व्यर्थ के अम्बार के नीचे दब कर न रह जाए. आखिर सभी प्ररूप, औपचारिकताएं, नियम और प्रक्रियाएं इसलिए हैं कि न्याय करने में सहायक हों. वे सत्य को प्रकट करने के उपकरण मात्र हैं. न्यायाधीश का कर्तव्य है कि वह देखे कि औपचारिकताएं, प्ररूप और नियम न्याय का ही गला न घोट दें.

14. न्यायाधीश का वादकारी के प्रति कर्तव्य बहुमुखी होता है. प्रायः वादकारी की पैरवी अधिवक्ता द्वारा की जाती है. दोनों ओर के अधिवक्ताओं की उचित सहायता मिल जाने पर न्याय करना प्रायः सरलतर हो जाता है, विवाद-प्रश्न ठीक से स्पष्ट हो जाते हैं, और न्यायाधीश को तथ्यों और साक्ष्य की सतर्क और तीव्र समीक्षा के रूप में विधिक सहायता मिल जाती है जिससे कि अमान्य बातें छोड़ दी

जाएं और मान्य सामग्री के गुण, प्रबलता और विश्वसनीयता पर ध्यान केन्द्रित किया जाए . किन्तु दोनों ओर से ऐसी विशेषज्ञीय सहायता सदैव उपलब्ध नहीं भी हो सकती है . क्या यह न्यायाधीश का कर्तव्य नहीं है कि वादकारी को ऐसे बेईमान वकील के पंजे से बचाए जो अपने आर्थिक लाभ के लिए मुवक्किल का शोषण करता है ? यह शोषण अनेक रूप ग्रहण कर सकता है, जैसे अनावश्यक रूप से तारीखें केवल इसलिए बढ़वाना जिससे कि मुवक्किल की जेब से और रुपया निकलवाया जा सके; पूरी फीस वसूल करने के बाद मुवक्किल को छोड़ देना; और न्यायालय से रुपया मुवक्किल की ओर से निकाल लेना तथा उसे न देना . अन्य ऐसे ही अनेक उदाहरण सोचे जा सकते हैं . निस्संदेह न्यायाधीश की तद्विषयक शक्तियों की कुछ सीमाएं हैं . किन्तु आवश्यकता यह है कि वह तीक्ष्ण विवेकपूर्ण दृष्टि रखे और जहां भी सम्भव हो अनाचार को रोके . जो न्यायाधीश ऐसे मामलों में वादकारी की सहायता करने को उत्सुक रहता है वह बहुत कुछ कर सकता है . हां, उसे अपनी शक्तियों का प्रयोग बुद्धि और कौशल के साथ करना होगा . निरक्षर ग्रामीण वादकारी बहुधा ऐसे अनाचार का शिकार होता है .

15. फिर, ऐसे वादकारी का भी मामला होता है जिसका कोई वकील नहीं होता . न्यायाधीश को चाहिए कि उसे सिरदर्द न समझे . वह मामला ऐसा होता है जिसमें वादकारी को न्यायाधीश द्वारा सहायता की वास्तविक आवश्यकता होती है जिससे कि वह दूसरी ओर के अधिवक्ता के वृत्तिक कौशल का उचित तौर पर मुकाबला कर सके . यह सही है कि न्यायाधीश पक्षपात नहीं कर सकता . किन्तु यह भी सही है कि वह इस विधिक द्वन्द्व में निष्पक्ष निर्णेता हो और देखे कि न्यायिक क्रीड़ा के नियमों का पालन किया जाए और यह सुनिश्चित करे कि एक पक्षकार के कमजोर और वकील-रहित होने का अनुचित लाभ दूसरे पक्षकार द्वारा न उठाया जा सके .

16. अब हम कटघरे में बयान दे रहे साक्षी पर आते हैं, जिससे दूसरी ओर का वकील जिरह कर रहा है . यह सही है कि जिस पक्ष-

कार की ओर से वह बयान देता है उसका वकील जिरह करने वाले वकील के स्पष्ट अतिलंघनों से उसे बचाने के लिए होता है. किन्तु वह संरक्षण अनेक बार उस अधिवक्ता की अयोग्यता या अनुभव-हीनता के कारण अपर्याप्त भी हो सकता है. ऐसे ही मामलों में साक्षी को न्यायालय के संरक्षण की आवश्यकता होती है. कुशल जिरह में और धौंस में लेने के हथकण्डों में अन्तर किया जाना चाहिए. न्यायिक कार्यवाही में प्रथमोक्त तो आवश्यक है, किन्तु उत्तरोक्त निन्दनीय है और न्यायाधीश का यह कर्तव्य है कि उसके विरुद्ध साक्षी को उचित संरक्षण प्रदान करे. यह देखना न्यायालय का कर्तव्य है कि साक्षी पूछे जाने वाले प्रश्न ठीक से समझ सके तथा उसे न बरबस चुप कराया जाए और न धौंस में लिया जाए, और न साक्षी के हित के विरुद्ध शब्द उसके मुंह में रख दिए जाएं. बहुधा जिरह करने वाला अधिवक्ता इस बात का आग्रह करता है कि उसके संश्लिष्ट प्रश्न का भी उत्तर एक शब्द में दिया जाए. अपने को फंसाए बिना ऐसा करना साक्षी के लिए असंभव होता है, चाहे वह उत्तर "हां" में दे और चाहे "ना" में. ऐसे प्रश्न का एक सरल प्राचीन उदाहरण है: "क्या आपने अपनी पत्नी को मारना बन्द कर दिया है?" इसका उत्तर केवल "हां" या "ना" में नहीं दिया जा सकता. यदि उत्तर "हां" में हो तो उसमें यह बात समाविष्ट होती है कि पीटना रोकने के समय तक वह अपनी पत्नी को मारता-पीटता रहता था. यदि वह "ना" कहता है तो उसमें यह स्वीकृति आ जाती है कि वह अपनी पत्नी को अब भी मारता-पीटता है. सत्य बात यह हो सकती है कि उसने अपनी पत्नी को कभी मारा ही न हो. यदि साक्षी को ऐसी परि-स्थिति में न्यायालय का संरक्षण प्राप्त न हो तो वह बेचारा कर ही क्या सकता है!

17. अब हम कुछ शब्द न्यायालय के सामान्य वातावरण के विषय में भी कहें. न्यायाधीश को चाहिए कि न्यायालय में कार्यवाही का संचालन उचित गरिमा और शिष्टता के वातावरण में करे. किंतु उसका यह अर्थ नहीं है कि न्यायाधीश न्यायालय में गम्भीर लम्बा

चेहरा बनाए और भौं चढ़ाए रहे . साथ ही न्यायाधीश को यह भी चाहिए कि अपने न्यायालय में वातावरण औपचारिकता-विहीन, तारतम्य–विहीन या छिछोरपन का न बनने दे . यद्यपि उचित गरिमा और शिष्टता तथा प्रक्रिया और प्ररूपिता का उचित महत्त्व बनाए रखना चाहिए, फिर भी न्यायालय का वातावरण तनावपूर्ण नहीं होना चाहिए . उसमें उचित विश्रान्ति होनी चाहिए जिससे कि किसी को अनुचित तनाव की अनुभूति न हो . वास्तव में पीठासीन न्यायाधीश के व्यक्तित्व की समष्टि की छाप न्यायालय पर पड़ती है और वहां उसी के अनुसार वातावरण बनता है . वस्तुतः न्यायालय न्याय का मन्दिर होता है . अतः उसमें मन्दिर की विश्रान्तिपूर्ण गंभीरता होनी चाहिए . वहां वाणी या कार्य में अनुचित हल्कापन बिल्कुल नहीं होना चाहिए, यद्यपि इने-गिने अवसरों पर गम्भीरता का आग्रह कुछ शिथिल कर देने से न्यायालय में बढ़ने वाले तनाव को कम करने में सहायता मिल सकती है .

18. प्रत्येक मुकदमे में दो पक्षकार होते हैं और न्यायालय को अनिवार्यतः एक के पक्ष में और दूसरे के विरुद्ध डिक्री देनी होती है . व्यावहारिक रूप में यह संभव नहीं है कि न्यायालय दोनों पक्षों को प्रसन्न कर दे . गलत बात करने वाला व्यक्ति प्रयत्न करता है कि जब तक सम्भव हो सके स्थिति का फायदा उठाता रहे . कार्यवाही को लम्बा चलाना उसके हित में होता है और वह तथा उसका वकील उस दिशा में सब कुछ करते हैं . ऐसे मामलों में न्यायाधीश को स्थिति का जायजा लेकर यह देखना चाहिए कि वह उस पक्षकार को विलम्बकारी हथकण्डे न अपनाने दे . ऐसे मामले में अंतरिम अनुतोष देने में भी अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता होती है . वास्तविक उपचार मामले को शीघ्र निपटाने से होता है . सभी की बात मानकर बार का प्रिय बनने का प्रयत्न वास्तविक न्याय का साधक नहीं होता . सस्ती लोकप्रियता न्यायिक अधिकारी का लक्ष्य कभी नहीं होनी चाहिए .

19. न्यायाधीश लगभग आधे वादकारियों को अनिवार्यतः असंतुष्ट कर देता है . उनमें से कुछ के साथ कड़ाई की जा सकती है : उन्हें भूमि, भवन और मूल्यवान् वस्तुओं से वंचित करना हो सकता है या उन पर बड़ी धनराशि की डिक्री देनी हो सकती है, जुर्माना करना हो सकता है या विभिन्न अवधियों के कारावास का दण्ड देना हो सकता है . उच्चतर न्यायालय में आजीवन कारावास या मृत्युदण्ड की बात भी हो सकती है . अनेक मामलों में न्यायिक निर्णय अपीलों में उल्टा जा सकता है और उस गलत निर्णय के शिकार हुए व्यक्ति को राहत मिल सकती है . यह आश्चर्यजनक बात है कि न्यायाधीश के निर्णय से पीड़ित होने वाले इतने अधिक लोग होने पर भी वे सम्बन्धित न्यायाधीश के प्रति व्यक्तिगत असद्भाव कैसे नहीं रखते . यह प्रथमदृष्ट्या आश्चर्यजनक लग सकता है, किन्तु इसका वास्तविक कारण सीधा-सादा है . पीड़ित वादकारी जानता है और हृदय से अनुभव करता है कि न्यायाधीश ने गलत या अन्यायपूर्ण निर्णय भले ही दिया, किन्तु उसने ऐसा किसी व्यक्तिगत दुर्भाव के कारण नहीं किया . अतः वादकारी न्यायाधीश के प्रति कोई व्यक्तिगत असद्भाव नहीं रखता . वह नैसर्गिक कवच न्यायाधीश की तब तक रक्षा करता है जब तक कि वह ईमानदारी से, निष्पक्ष रूप में और किसी वादकारी के विरुद्ध व्यक्तिगत दुर्भाव के बिना कार्य करता है . जैसे ही व्यक्तिगत दुर्भाव या प्रतिकूल भावना न्यायिक अधिकारी के मन में प्रवेश करती है, अथवा जब न्यायाधीश इस प्रकार कार्य करता है कि वादकारी के मन में वह निष्कर्ष युक्तियुक्त रूप से आ जाए (भले ही वस्तुतः न्यायाधीश ने अपनी समझ में निष्पक्ष होकर और प्रतिकूल भावना के बिना कार्य किया हो) तब न्यायिक अधिकारी का वह मूल्यवान् कवच हट जाता है और फिर वह वादकारी की प्रतिशोधपूर्ण कार्यवाही के लिए उच्छिन्न हो जाता है . प्रत्येक न्यायिक अधिकारी को इस विषय में बहुत सावधानी बरतनी चाहिए . उसे व्यक्तिगत प्रतिकूल भावना के बिना ईमानदारी से काम करना चाहिए और अन्य व्यक्तियों को प्रकट भी होना चाहिए कि वह इस प्रकार

कार्य कर रहा है .

20. न्यायिक अधिकारी को न्यायिक निर्णय के लिए ऐसा कोई मामला ग्रहण नहीं करना चाहिए जिसमें उसका अपना हित हो या प्रतीत हो . यथासम्भव कोई ऐसा मामला, जिसमें उसके सम्बन्धी, मित्र या साथी अथवा उसके कार्यालय में कार्य करने वाले अधीनस्थ सम्बन्धित हों, न्यायिक अधिकारी की न्यायिक समीक्षा का विषय नहीं होना चाहिए. ऐसे मामलों में न्यायिक अधिकारी के निष्पक्षता से काम करने पर भी यह कहा जा सकता है कि वह अमुक हित से प्रेरित हुआ था . यदि वह मित्र का दावा न माने तो मित्र को लग सकता है कि मुझे धोखा दिया गया; यदि वह मित्र के पक्ष में डिक्री दे तो अन्य व्यक्ति कह सकते हैं कि उसने मित्र का पक्षपात किया . इसीलिए यह सिद्धान्त है कि न्याय किया ही नहीं जाना चाहिए अपितु किया गया प्रतीत भी होना चाहिए . ऐसी स्थितियों में सबसे निरापद मार्ग यह है कि अपने उच्चतर अधिकारी को लिख दें कि मुकदमा किसी अन्य न्यायालय को अन्तरित कर दें . न्यायाधीश को चाहिए कि अपने निजी हित को न्याय के मार्ग में न आने दे .

21. न्यायाधीश जो अपनी कुर्सी से बोलते समय भी सावधान रहना चाहिए . सामान्यतः वह ऐसा अनुभव नहीं करता; किन्तु न्यायाधीश द्वारा कुर्सी से कही गई स्फुट और निर्दोष बात का भी वादकारियों द्वारा खींचकर दूसरा अर्थ लगाया जा सकता है और उससे उलझन पैदा हो सकती है या गलत निष्कर्ष निकाला जा सकता है . मुझे एक उदाहरण स्मरण है : मैं सेशन न्यायाधीश के रूप में हत्या के एक मामले का विचारण कर रहा था . मेरा पेशकार साक्ष्य को ध्यान से नहीं लिख रहा था . मैंने उसे डांटा कि इतने गम्भीर मामले में भी तुम ठीक से काम नहीं कर रहे हो ! अधिक ध्यान से काम करो . अगले दिन अभियुक्त के अधिवक्ता ने मुझसे कहा कि 'अभियुक्त ने मुझसे पूछा था कि "इतना गंभीर मामला" कहने का क्या अर्थ है ? क्या न्यायाधीश मृत्युदण्ड देने जा रहे हैं ?'

22. वस्तुतः न्यायाधीश को इस विषय में विशेष सावधान

रहना चाहिए कि वह कुर्सी पर से कैसे बोले . कड़े शब्दों या अहंकारी रुख से न न्यायाधीश के प्रति आदर बढ़ता है और न न्यायालय की गरिमा बढ़ती है, बल्कि उल्टी बात होती है . सदैव मुस्कराता चेहरा, कोमल शब्द और मधुर व्यवहार से न्यायाधीश वकीलों और वादकारियों में प्रिय हो जाता है और साथ ही न्यायालय के वातावरण की गरिमा या गम्भीरता भी नहीं घटती . जो न्यायाधीश ऐसा नहीं कर सकता, उसे चाहिए कि वह अपना मुंह यथासम्भव बंद रखे .

23. एक और विषय में भी सावधानी की आवश्यकता है . सामान्यत: न्यायाधीश को (वैवाहिक विवादों से भिन्न) विवादों में वादकारियों से समझौता करने के लिए न कहना चाहिए और न आग्रह करना चाहिए . यदि पक्षकार स्वेच्छा से ही समझौते का प्रस्ताव करें तो न्यायाधीश सावधानी के साथ कुछ विवेकपूर्ण सुझाव दे सकता है, जिन से छोटे-मोटे अटकाव दूर हो जाएं, और समझौते में सहायता मिले . किन्तु यदि न्यायाधीश समझौते की बात अपनी ओर से प्रारम्भ करे या पक्षकारों से समझौता करने के लिए आग्रह करे तो उसका यह अर्थ लगाया जा सकता है कि वह विचारण और निर्णय करने के श्रम से बचना चाहता है . और कुछ मामलों में तो न्यायिक अधिकारी का यह प्रयत्न न्यायिक प्रपीडन[1] का भी द्योतक माना जा सकता है .

24. न्यायाधीश को भरसक प्रयत्न करना चाहिए कि वादकारियों को कठिनाई कम से कम हो . आज यह सही है कि न्यायिक अधिकारियों की कमी के कारण न्यायाधीशों और मजिस्ट्रेटों के यहां विचाराधीन मामले इतने बढ़ गए हैं कि उनकी व्यवस्था रखना दुष्कर हो गया है . परिणामस्वरूप प्रतिदिन इतने वादकारी और साक्षी न्यायालय में आते हैं जितनों को न्यायालय निपटा नहीं सकता . इस प्रकार वादकारियों को न्यायालय परिसर में सुबह से शाम तक व्यर्थ में प्रतीक्षा करनी पड़ती है और उनके मुकदमे में कोई कार्यवाही न

1. Coercion.

होकर अंत में शाम को उन्हें बता दिया जाता है कि उनके मामले में तारीख लगा दी गई है . इसका एक उपाय यह है कि प्रतिदिन उतने ही मुकदमे लगाए जाए जितने कि न्यायालय एक दिन में उचित तौर पर कर सकता है . यदि किसी दिन अधिक भीड़ लग जाए तो न्यायाधीश का यह कर्तव्य हो जाता है कि बाद-सूची में कुछ कमी कर दे और जिन मामलों के सम्बन्ध में यह लगे कि वे आज नहीं लिए जा सकेंगे उनमें दिन के प्रारम्भ में ही अगली तारीख लगा दे . न्यायाधीश को चाहिए कि तारीख लगाने का यह कार्य पेशकार पर न छोड़कर स्वयं तारीख लगाकर वादकारियों को बता दे . इससे एक ओर तो वादकारी अनावश्यक रूप से तंग होने से बचेंगे और दूसरी ओर न्यायालय के कर्मचारियों में भ्रष्टाचार का एक अवसर भी कम होगा .

25. कर्मचारियों में भ्रष्टाचार न्यायाधीश के उचित प्रयत्नों से बहुत घट सकता है, यदि वह आंख खोलकर बैठे और अपने कर्मचारियों पर उचित निगरानी रखे . न्यायाधीश को चाहिए कि जब तब कर्मचारियों का अचानक निरीक्षण करके देख ले कि दैनिक कार्य पड़ा न रहे और न बकाया एकत्र हो . इसमें सर्वाधिक महत्त्व न्यायाधीश की अपनी ईमानदारी और सत्यनिष्ठा का है . इस विषय में स्वयं अपने आचरण से अपने अधीनस्थों को प्रभावित करके न्यायाधीश अपने कर्मचारियों में भ्रष्टाचार को घटा सकता है .

26. अब हम न्यायाधीश के बार से संबंधों पर आते हैं . यह एक नाजुक मामला है . बार और बेंच एक दूसरे के अनुपूरक हैं . वस्तुतः एक के बिना दूसरे का काम नहीं चल सकता . न्यायिक प्रशासन की इन दो शाखाओं की पारस्परिक प्रतिक्रिया में, दोनों ओर सद्भावना होते हुए भी, गड़बड़ हो सकती है . अधिकांश गड़बड़ अल्पकालीन होगी और केवल होशियारी बरतने की आवश्यकता होगी . साथ ही यह भी स्मरणीय है कि बार एक बहुविध संस्था है, जिसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्ति हैं . वे दिन गुजर गए जबकि प्रायः बार एसोसिएशन का अध्यक्ष ऐसा व्यक्ति होता था जो बार का बहुत ज्येष्ठ या ज्येष्ठतम सदस्य होता था, जिसका बहुत सम्मान होता था और

जो संपूर्ण बार पर पूरा नियंत्रण रखता था . वह अत्यन्त सम्मानित वरिष्ठ होता था, जिसकी बात बार का प्रत्येक सदस्य मानता था . आज वरिष्ठ अधिवक्ताओं के प्रति सम्मान का स्थान व्यक्तिवादी[1] प्रवृत्तियों ने ले लिया है और कोई भी अकेला सदस्य सम्पूर्ण बार पर पूरा नियंत्रण नहीं रख सकता . प्रायः प्रत्येक बार में दो या चार शीर्षस्थ व्यक्ति होते हैं; अधिकांश मध्यम दर्जे के होते हैं; कुछ जड़ होते हैं; और एक दो झगड़ालू भी होते हैं . अच्छे स्वभाव वाला औसत न्यायाधीश प्रथम तीन कोटियों से आसानी से बरत सकता है . किन्तु झगड़ालू व्यक्ति से बरतना कुछ कठिन होता है . बात सही हो या गलत, वह सदैव झगड़े पर उतारू रहता है . झगड़ालू व्यक्ति को निहत्था करने का संभवतः एकमात्र तरीका यही है कि बदले में लड़ाई न करे . मुस्कराकर उसके अहम् की तुष्टि कर दीजिए और वह झुक जाएगा .

27. बार के अधिकांश सदस्य सहयोग करने वाले और वांछनीय व्यक्ति होते हैं . उनसे बरतना सरल होता है . यदि वे कोई बात वस्तुतः पसन्द नहीं करते तो वह है न्यायाधीश का पक्षपात . यदि न्यायाधीश सख्त हो और सब के साथ एक-सा ही सख्त व्यवहार रखे तो उन्हें बुरा नहीं लगता . वे ऐसे न्यायाधीश पर ही बिगड़ते हैं जो भिन्न-भिन्न वकीलों के प्रति कड़ाई के भिन्न-भिन्न मापदण्ड अपनाता है . सर्वोत्तम मार्ग तो यह है कि बार के सभी सदस्यों के साथ समान सद्भाव और निष्पक्षता के साथ व्यवहार करे . फिर कोई गड़बड़ी नहीं होगी .

28. न्यायाधीश को अपने कार्य में भी दक्षता प्राप्त करनी चाहिए . उसी से वकीलों का आदर और सम्मान मिल सकता है . यदि कहीं एक भी वकील न्यायाधीश को विधि के ज्ञान और प्रतिभा में नीचा दिखा सके तो कोई भी न्यायाधीश वहां गरिमा के साथ काम नहीं कर सकता . न्यायाधीश को श्रेष्ठतम वकील से भी बेहतर

---

1. Individualistic.

होना अनिवार्य है . यह उतना कठिन नहीं होता जितना कि लगता है . यदि न्यायाधीश अपने कार्य में वास्तविक रुचि ले तो दिन-प्रतिदिन के पूरे काम से आने वाले अनुभव के कारण उसकी प्रतिभा औसत वकील की अपेक्षा शीघ्रतर बढ़ती है . सर्वोत्तम सहायता उसे बार से मिलती है . एक स्थान से दूसरे स्थान को अन्तरण उसे विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न प्रतिभाओं का अनुभव प्राप्त करा देता है . इन सुविधाओं के कारण न्यायाधीश की न्यायिक प्रतिभा शीघ्र बढ़ती है, शर्त यही है कि वह सीखने के लिए उत्सुक हो . कुछ स्थानों पर बार के ज्येष्ठतम सदस्यों में यह प्रवृत्ति होती है कि नए नवयुवक न्यायाधीश को अपना संरक्षण प्रदान करने का स्वांग करते हैं . वे न्यायाधीश के मन में यह बात जमाना चाहते हैं कि वे न्यायाधीश के मार्ग-दर्शन के लिए सदैव उपलब्ध है और उसे सभी प्रकार का संरक्षण प्रदान करेंगे . निस्सन्देह वे ऐसा खुलकर तो नहीं कहते, किन्तु अपने तौर-तरीकों और व्यंजना द्वारा वे उक्त आशय जताते हैं . न्यायाधीश को ऐसे वकीलों से सावधान रहना चाहिए . वे खतरनाक साबित हो सकते हैं, आगे चलकर वे न्यायाधीश का अनुचित लाभ उठा सकते हैं . ऐसे वकीलों को यह जताने के लिए कि न्यायाधीश उनसे सवाया है, दृढ़ता, धैर्य और कौशल की आवश्यकता होगी .

29. वकीलों से व्यवहार करते समय यह स्मरणीय है कि न्यायाधीश का बार के सदस्यों के प्रति व्यवहार प्रीतिकर, आदरपूर्ण, निष्पक्ष और कुशल होने के साथ-साथ दृढ़ भी हो . बार के सदस्यों के प्रति उद्धत, अपमानकारी या घमण्डी होना लाभकर नहीं होता . चोट खाने पर बार सहस्रशीर्ष नाग की भांति खूंखार हो सकता है और न्यायाधीश के लिए यह इष्टकर नहीं है कि उसे अनावश्यक रूप से रुष्ट या विमुख कर दे . उसमें न्यायाधीश की जीवन-वृत्ति[1] को हानि पहुंचाने की सामर्थ्य भी होती है . न्यायाधीश को वकीलों के प्रति शांत व निरापद ढंग से, स्मितपूर्वक किन्तु दृढ़ता से, व्यवहार करना

1. Career.

चाहिए और उन्हें उस प्रकार मोहित करना चाहिए जिस प्रकार संपेरा सांप को वश में करता है, उसे अपने से दूर रखते हुए अपनी ध्वनि पर नचाता है. इसका यह अर्थ नहीं है कि न्यायाधीश वकीलों से डरे या उनकी चापलूसी करे, या उन्हें प्रसन्न करने के लिए अपने मार्ग से विचलित हो, या उन्हें अवसर दे कि न्यायाधीश का मार्ग निर्धारित करें.

30. न्यायाधीश के लिए यह हमेशा फायदाप्रद होता है कि वकीलों से व्यक्तिगत संबंधों में कुछ दूर हो रहे. यदि न्यायाधीश अपने व्यक्तिगत जीवन में किसी वकील को निकट आने देता है तो पूरी संभावना इस बात की होती है कि वह न्यायाधीश से अपने निकट संबंधों का अनुचित लाभ उठाएगा. न्यायाधीश चाहे कितना ही निर्मल और निष्पक्ष हो, बार के किसी विशिष्ट सदस्य के साथ निकटता की बार के अन्य सदस्य भी आलोचना कर सकते हैं. ऐसी स्थिति से बचना ही श्रेयस्कर है.

31. न्यायिक अधिकारी के रूप में कार्य करते समय न्यायाधीश को अपना मस्तिष्क बराबर खुला रखना चाहिए. विचारण के दौरान वह विवादित प्रश्न पर अधिवक्ता से प्रश्न या तर्क कर सकता है; किन्तु न्यायाधीश का दृष्टिकोण रूढ़िवादी नहीं होना चाहिए. भले ही उसने एक पक्ष में राय कायम कर ली हो, फिर भी उसे अंत तक खुला मस्तिष्क रखना चाहिए जिससे कि उसमें तर्क-संगत सुधार कर सके. इस प्रकार न्यायाधीश को अधिवक्ताओं के प्रति न्यायी और निष्पक्ष होना चाहिए. प्रत्येक मनुष्य की अहम् के कारण यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि कोई निष्कर्ष निकाल कर फिर उससे लगाव रखे. यह सामान्य मानवी कमी है. न्यायाधीश भी उसके अपवाद नहीं होते. बल्कि उन्हें अपने निष्कर्ष से विचलित करना और भी कठिन होता है. ऐसा न्यायाधीश अन्याय कर सकता है और अपने निष्कर्ष के विरुद्ध वकील के तर्क को अमान्य कर सकता है, भले ही वकील की बात सही हो और न्यायाधीश की बात गलत हो. यह बिल्कुल अन्यायिक दृष्टिकोण है और न्यायाधीशों को उससे ऊपर

रहना चाहिए . उन्हें मस्तिष्क खुला रखना चाहिए . बहुधा ऐसा हो सकता है कि न्यायाधीश ने अपने प्रथम दृष्ट्या निष्कर्ष को प्रकट कर दिया हो . फिर तो उसके लिए पुनर्विलोकन करके अपना मत बदलना और भी कठिन हो जाता है . सबसे निरापद मार्ग यह है कि बहस पूरी होने के बाद उस पर शांतिपूर्वक विचार करके अन्तिम निष्कर्ष निकाले बिना अपना विचार प्रकट ही न करें . अपनी गलती स्वीकार करने के लिए भी साहस चाहिए .

32. शान्त मुद्रा, मुस्कराता हुआ प्रीतिकर चेहरा, मधुर एवं नम्र व्यवहार तथा मृदु वाणी से बहुत उपलब्धि हो सकती है . इस प्रकार के व्यवहार से झगड़ा करने आने वाला व्यक्ति तक निःशस्त्र होकर समर्पण कर देता है . व्यक्ति जितना ही अधिक आदर और शक्ति वाले पद पर पहुंच जाता है उसे उतनी ही प्रीतिकर एवं मधुर स्वभाव की आवश्यकता अधिक होती है . अपढ़ और असभ्य व्यक्ति ही रूखा और असंस्कृत हो सकता है . स्वभाव पर नियंत्रण न्यायाधीश के लिए आवश्यक है . उसे कभी भी क्रुद्ध या उद्दीप्त नहीं होना चाहिए . उस प्रकार के स्वभाव से अपरिपक्व व्यक्तित्व ही प्रकट होता है .

33. आप निकट भविष्य में अनुभव करेंगे कि न्यायाधीश के रूप में आपकी अच्छी या बुरी ख्याति शीघ्र बन जाएगी और वह आपके तैनाती के स्थान पर पहुंचने के पहले ही वहां पहुंच जाया करेगी . जब किसी न्यायाधीश की बदली एक स्थान से दूसरे स्थान को होती है तो उसके नए स्थान पर पहुंचने के पहले ही उसकी ख्याति वहां पहुंच जाती है . नए स्थान पर न्यायाधीश के आने के पहले ही अधिवक्तागण जान जाते हैं कि उन्हें कैसा न्यायाधीश मिल रहा है . फिर भी नए स्थान पर उसे आंकने-परखने या विचलित करने के लिए कुछ प्रयत्न किए जाएंगे . कोई व्यक्ति उपहार भेज सकता है। और कोई दैनिक आवश्यकता की वस्तु . यह सब यह देखने के लिए कि न्यायाधीश क्या करता है . बहुत कुछ इस पर निर्भर करेगा कि इन पर न्यायाधीश की प्रतिक्रिया क्या होती है . उसे दृढ़ होना चाहिए . नए स्थान पर प्रारम्भ के कुछ दिनों में ही उसे अपनी ख्याति दृढ़ता से

जमा लेनी चाहिए . मुझे न्यायाधीश के रूप में कार्य करते लगभग दो वर्ष ही हुए थे कि मैं एक दूरस्थ तहसील मुख्यालय को स्थानान्तरित कर दिया गया . मेरे वहां पहुंचने के अगले दिन वहां एक चपरासी एक लोटे में दूध लेकर मेरे पास आया और उसने बताया कि अमुक वकील ने दूध भेजा है . मैंने उसे दृढ़तापूर्वक बता दिया कि मैंने दूध वाला लगा लिया है और रोज दूध आने का प्रबंध हो गया है . मैंने उससे कहा कि वह अपना दूध ले जाकर अपने मालिक को लौटा दे . वह स्तम्भित रह गया . भेजा हुआ दूध वापस करना संभवत: असभ्यता समझा जाता था . उसने आश्चर्यपूर्वक पूछा, "तो क्या आप वस्तुत: मुझसे ही दूध लौटवा रहे है ?" मैं जमा रहा . उसके परिणामस्वरूप और परख नहीं की गई .

34. अब हम एक अन्य महत्त्वपूर्ण विषय पर आते हैं : अपने अधीनस्थ कर्मचारियों से न्यायाधीश के सम्बन्ध . प्रारम्भ में न्यायाधीश के अधीन बहुत कम कर्मचारी होंगे; बस एक-दो लिपिक तथा दो चपरासी . जैसे ही न्यायाधीश ज्येष्ठ हो जाता है और उसे किसी स्थान का स्वतन्त्र चार्ज मिल जाता है जहां संभवत: वही एक न्यायिक अधिकारी होगा, अर्थात् एक ही न्यायालय होगा, उसकी अधीनता में काम करने वाले कर्मचारी बढ़ जाते हैं, पांच या छह लिपिक, दस-बारह चपरासी, एक फर्राश और एक चौकीदार . तब वह अपने सभी कर्मचारियों का कार्यालयाध्यक्ष होता है . वह उन पर कैसा नियंत्रण रखता है ? उनके संबंध में उसकी क्या क्रियाएं और प्रतिक्रियाएं होती है ? न्यायाधीश का अपने कर्मचारियों के प्रति दृष्टिकोण मानवीय होना चाहिए और उसे उनका ध्यान रखना चाहिए . कर्मचारी यह न समझें कि न्यायाधीश केवल छिद्रान्वेषी स्वामी है जिसका आदर केवल उसकी स्थिति के कारण किया जाना चाहिए तथा जिसमें आदर की अपेक्षा उसका या उसके प्रति घृणा अधिक हो . न्यायाधीश को चाहिए कि उन्हें हृदयंगम कराए कि उसे उनकी रक्षा भी करनी है, उनकी कठिनाइयों में उनकी मदद करनी है; वह उनकी कठिनाइयां धैर्य से सुनने और उनका उपचार निकालने का

प्रयत्न करने के लिए है . यदि न्यायाधीश इस बात पर जोर देता है कि उसका कर्मचारी कार्याधिक्य को निपटाने के लिए किसी दिन कार्य के समय के बाद रुके तो वह उन्हें यह भी अनुभव कराए कि उसको उनकी वस्तुतः चिन्ता है . यदि कोई कर्मचारी ज्वर-ग्रस्त हो या उसके घर पर कोई बड़ी कठिनाई हो तो उसे कार्यालय बन्द होने के समय के पहले ही घर जाने दे . आखिरकार न्यायालय का कार्य सारतः मिल कर किया जाने वाला कार्य है; कर्मचारियों के सहयोग के बिना कुछ भी कर पाना बहुत कठिन है . यह तभी स्पष्ट होता है जब तृतीय या चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी हड़ताल पर होकर अनुपस्थित रहते हैं . ऐसे समय में न्यायाधीश अकेले कोई न्यायिक कार्य शायद ही कर पाए . कर्मचारियों का न्यायाधीश के प्रति भाव आदर और स्नेह का होना चाहिए, न कि केवल भय का . इसके लिए यह आवश्यक है कि न्यायाधीश अपने व्यक्तित्व की छाप कर्मचारियों पर छोड़े, जो न्यायाधीश के सबके प्रति स्वभाव, आचरण और व्यवहार से प्रकट होगा . कभी ऐसा भी हो सकता है कि न्यायाधीश को अपने किसी कर्मचारी की किसी उच्चतर अधिकारी द्वारा किए जा रहे अन्याय से रक्षा के लिए सिफारिश भी करनी पड़े .

35. कर्मचारियों पर उचित शासन करने के लिए यह आवश्यक है कि न्यायाधीश अपने कार्यालय की प्रत्येक शाखा के कार्यकरण को तथा अपने कर्मचारिवृन्द द्वारा किए जा रहे प्रत्येक मेज के कार्य को भली-भाँति जाने . यदि उसमें कमी हुई तो न्यायाधीश स्वभावतः कर्मचारियों पर नियंत्रण नहीं रख सकेगा . वे उसके अज्ञान का फायदा उठा सकते हैं और उसे चकमा देकर चुप करा सकते हैं . यह सही है कि नया न्यायाधीश प्रारम्भ में प्रत्येक शाखा और प्रत्येक कर्मचारी के काम को प्रक्रिया भली-भाँति न जाने; हो सकता है कि उसे सभी नियमों और अनुदेशों का पूरा पता न हो . किन्तु यह आवश्यक है कि न्यायाधीश यथासंभव शीघ्र यह सब जानकारी प्राप्त कर ले . तभी वह अपने कर्मचारियों के ऊपर नियंत्रण रखने की स्थिति में होगा .

36. इसकी विशेष आवश्यकता लेखा के क्षेत्र में होती है. आज की स्थिति के बारे में हम नहीं जानते; हम अपने समय की बात कर रहे है. मामूली तौर पर दैनिक लेखा दैनिक रोकड़ में तथा वर्गीकरण रजिस्टर (खाते) में नाजिर द्वारा लिखा जाता है और वही उस लिखे हुए लेखे पर हस्ताक्षर कर देता है. इन लेखाओं की चैकिंग करके न्यायालय लिपिक उन पर प्रतिहस्ताक्षर कर देता है. तब लेखा पुस्तकें न्यायाधीश के पास लाई जाती है जिससे अपेक्षा होती है कि वह उन्हें चैक करे और उन पर औपचारिक रूप से हस्ताक्षर करे. बहुत से न्यायाधीश लेखाओं पर मात्र हस्ताक्षर कर देते थे और ऐसा वे सम्बन्धित रजिस्टरों, रसीदों, बाउचरों आदि से प्रत्येक प्रविष्टि के सत्यापन के बिना करते थे. जब न्यायालय लिपिक देखता है कि न्यायाधीश केवल हस्ताक्षर करता है, प्रविष्टियां चैक नहीं करता तो वह भी ढीला पड़ जाता है. वह नाजिर पर निर्भर करने लगता है. और स्वयं भी बिना चैक किए हस्ताक्षर करने लगता है. नियमों में तीन बार चैक करने की जो भावना है वह नाजिर द्वारा लिखे गए लेखे पर बिना चैक किए हस्ताक्षर को रह जाती है. यदि नाजिर बेईमान हो या आर्थिक कठिनाई में हो तो वह ऐसी स्थिति का फायदा उठा सकता है और चैकिंग से भी बच सकता है. असद्भाव के बिना की गई गलतियां भी छूट सकती है. जिला न्यायालयों में लेखा पुस्तिकाओं को चेक करने और उन पर हस्ताक्षर करने का कार्य पहले प्रायः सहायक न्यायाधीश को दे दिया जाता था. यह कार्य मैंने तब तक नित्य-प्रति किया जब तक जिला न्यायाधीश के रूप में प्रोन्नत होकर उससे मुक्त नहीं हो गया. कभी-कभी सहायक न्यायाधीश कुछ दिन के लिए आकस्मिक छुट्टी पर होते थे तो लेखा जिला न्यायाधीश के रूप में मेरे पास लाया जाता था. प्रथम दिन मैंने पाया कि नाजिर केवल लेखा पुस्तकें मेरे हस्ताक्षरों के लिए लाया है और वह उन अन्य रजिस्टरों, बाउचरों, रसीद बहियों आदि के बिना जिनसे प्रत्येक प्रविष्टि को चेक किया जाता. वह मुझसे केवल यह आशा करता था कि मैं लेखा पुस्तकों पर औपचारिक रूप से

हस्ताक्षर कर दूँ, जैसा कि सहायक न्यायाधीश संभवतः बराबर करते रहे थे. जब मैंने उससे कहा कि वह लेखा प्रविष्टियों को चेक करने के लिए वाउचर, रसीद बहियां और अन्य रजिस्टर लाए तो वह प्रत्यक्षतः आश्चर्यचकित हो गया. वह आज्ञानुसार सब ले आया. जब मैंने पूर्वगामी दिन के इति शेष[1] को प्रविष्टि का मिलान दूसरे दिन के अथ शेष[2] से करना तथा कैश बुक की प्रत्येक प्रविष्टि की वाउचरों, रसीदों तथा अन्य रजिस्टरों की प्रविष्टियों से मिलान करना तथा वर्गीकरण रजिस्टर की प्रविष्टियों के ऊपर-नीचे तथा अगल-बगल के जोड़ों को चेक करना प्रारम्भ किया तो नाजिर पर बहुत प्रभाव पड़ा. "श्रीमान् जी आप तो सब जानते हैं," वह आश्चर्य-चकित होकर बोला. कर्मचारियों पर उचित नियंत्रण रखने का यह भी एक तरीका है. जब न्यायाधीश को कार्य के प्रत्येक क्षेत्र का ज्ञान होता है तो वे उसका विशेष आदर करते हैं.

37. यह सुनिश्चित करने के लिए कि कार्यालय के विभिन्न रजिस्टरों में प्रविष्टियां तुरन्त की जाएं और प्रत्येक शाखा का काम अद्यावधि रहे, यह आवश्यक है कि कर्मचारी जाने कि न्यायाधीश किसी भी समय उनके काम का आकस्मिक निरीक्षण कर सकता है. इसके लिए कार्यालय की विभिन्न शाखाओं के काम का जब-तब और नियतकालिक रूप से आकस्मिक निरीक्षण आवश्यक हो जाता है. आकस्मिक निरीक्षण करने के बाद न्यायाधीश अभिलेख के लिए आकस्मिक निरीक्षण टिप्पणी तैयार करता है. इससे कर्मचारी दिन-प्रतिदिन का काम नियमित रूप से करने को प्रेरित होते है व उनके काम की बकाया के अम्बार नहीं लग पाते. यह उतना कठिन नहीं है जितना कि लगता है. ऐसा एक आकस्मिक निरीक्षण करने में 15-20 मिनट से अधिक नहीं लगेंगे क्योंकि एक बार जब यह पद्धति नियमित रूप से अपनाली जाए तो ऐसा निरीक्षण प्रत्येक मास किया जा सकता है. ऐसे आकस्मिक निरीक्षण पर न्यायालय के समय के

---

1. Closing balance. 2. Opening balance.

पहले या पश्चात् किसी दिन 15-20 मिनट खर्च कर देना पर्याप्त होगा . हो सकता है कि किसी दिन न्यायालय का काम सबूत के लिए लगे मुकदमों में समझौता हो जाने के कारण या किसी अन्य अप्रत्याशित कारण से न चले और न्यायाधीश के पास करने के लिए न्यायिक कार्य न बचे . इन दिनों का उपयोग ऐसे निरीक्षणों के लिए किया जा सकता है . यह अवश्य है कि न्यायालय से समय के पहले चले जाने की प्रवृत्ति पर नियंत्रण रखना होगा . न्यायाधीश को समझना चाहिए कि यह केवल जिला न्यायाधीश का विशेषाधिकार नहीं है कि अपनी अधीनता के सभी न्यायालयों का वार्षिक निरीक्षण करे; इससे भी ज्यादा यह प्रत्येक न्यायाधीश का कार्य है कि सुनिश्चित करे कि उसके न्यायालय तथा कार्यालय का काम स्वच्छता के साथ और अद्यावधि चले और बकाया इकट्ठा न हो .

38. प्रत्येक कार्यालय और न्यायालय में प्रायः दो-तीन कर्मचारी दक्ष होते हैं; और अन्य अधिकांशतः सामान्य होते हैं जो किसी प्रकार काम चलाते हैं; और एक-दो आलसी होते हैं जो पिछड़े रहते हैं, अर्थात् वे अयोग्य कर्मचारी होते हैं . यही लोग प्रायः काम की बकाया के अम्बार लगा लेते हैं . हो सकता है कि कभी कोई नया अनुभवहीन कर्मचारी काम करना नहीं जानता हो और इस प्रकार काम इकट्ठा हो जाए . अब न्यायाधीश को इस बात का पता चल जाए तो फिर उसे क्या करना है ? वह प्रायः यह कर देता है कि एक-दो दक्ष कर्मचारियों को बकाया निपटाने में लगा देता है . ऐसा बहुधा होता है . पहले दो-तीन बार दक्ष कर्मचारी यह अतिरिक्त काम बिना किसी आपत्ति के कर देते हैं . किन्तु धीरे-धीरे दक्ष कर्मचारी यह अनुभव करते हैं कि उन्हें आए दिन ऐसा अतिरिक्त काम करना पड़ता है जिसको दूसरे ने अपना काम न करके इकट्ठा किया था . तब उनका विरोध जमने लगता है . उचित उपचार क्या है ? हमें एक बार इस प्रकार की समस्या अपने निष्पादन लिपिक के सम्बन्ध में हुई जिसने परीक्षा और रजिस्टर में चढ़ाए बिना लगभग 500 निष्पादन आवेदन केवल इस कारण एकत्र कर लिए थे कि उसे यह नहीं मालूम

था कि यह काम कैसे किया जाए . तब मैं मुंसिफ था . मैंने स्थिति को देखकर उससे कहा कि मैं कल से रोज आधा घण्टे पहले न्यायालय आऊंगा और वह आवेदनों का बण्डल व रजिस्टर मेरे सामने रखे और मैं स्वयं काम करूंगा और काम करना उसे भी बता दूंगा . अगले दिन जब मैंने न्यायालय के समय से पहले पहुंच कर कार्य प्रारम्भ कर दिया तो दो-तीन अन्य कर्मचारी स्वेच्छा से मेरे पास आए और उन्होंने कहा कि आपको कष्ट करने की आवश्यकता नहीं है और वे ही काम कर देंगे तथा करना भी बता देंगे .

39. न्यायाधीश अपने अधीनस्थ कर्मचारियों का स्वामी होता है और वह उनकी वार्षिक गोपनीय प्रविष्टियां करता है . उसमें उसे विशेष सावधान होना चाहिए . उसे दक्ष व अदक्ष, अच्छे और बुरे, ईमानदार और बेईमान कर्मचारियों में सही अंतर करना चाहिए . अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की वार्षिक गोपनीय प्रविष्टियां करते समय अपनी भलमनसाहत जताने के लिए सभी को अच्छा नहीं लिख देना चाहिए . यदि वह ऐसा करता है तो दक्ष कर्मचारियों के साथ तो अन्याय करता ही है, अदक्ष कर्मचारियों के साथ भी अन्याय करता है . कर्मचारियों के काम की गुणवत्ता, स्तर और गति का तथा उनकी विश्वसनीयता का मूल्यांकन अनासक्त भाव एवं शान्त मन से तथा व्यक्तिगत प्रतिकूल धारणा या क्रोध के बिना करना आवश्यक है . यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण विषय है . एक प्रसिद्ध न्यायाधीश ने मेरे सहायक न्यायाधीश के रूप में प्रोन्नत होने के समय के लगभग यह सलाह दी थी : "जोशी जी, आप अब एक महत्त्वपूर्ण पद पर पहुंचने वाले हैं, स्मरण रखिए कि किसी के साथ भलाई करना बहुत कठिन होता है, जबकि अपने किसी भी अधीनस्थ का जीवन आप जरा कलम घुमाकर नष्ट कर सकते हैं; अतः लिखने के पूर्व दस बार सोच लें" . मैं समझता हूं कि यह बहुत ही बुद्धिमतापूर्ण सलाह है, जिस पर प्रत्येक न्यायिक अधिकारी को ध्यान देना चाहिए . क्रोध में आकर कभी काम न करें . पहले शांत हो जाएं . क्रुद्ध होना, चाहे वह न्यायालय में हो या कार्यालय में, या बाहर,

न्यायाधीश के स्वभाव के प्रतिकूल होता है . यदि वह यकायक आवेग में आकर क्रुद्ध हो जाएगा तो बहुधा त्रुटि कर जाएगा . और फिर शांत-चित्त होने पर वह अपने को लज्जा या पश्चात्ताप की स्थिति में पाएगा .

40. कार्यालय के प्रशासन में कभी न्यायाधीश यह पा सकता है कि गलतियां की गई हैं . कभी गलती समय से पकड़ी जाने पर उसके परिणाम से बचा जा सकता है और कभी देर में पता लगने के कारण वह पूरी हो गई होगी . यह आवश्यक है कि तब भी भूल सुधार करके स्थिति का उपचार कर लिया जाए . न्यायाधीश गलती करने वाले कर्मचारी से जवाब तलब करके उसकी भर्त्सना कर सकता है . किन्तु इतना पर्याप्त नहीं है . ऐसे मामलों में न्यायाधीश को अन्वेषण करके यह पता लगाना चाहिए कि कड़े नियमों के बावजूद ऐसी गलती किस प्रकार हुई ? किस उपेक्षा, असावधानी या कर्तव्य-अपालन के कारण वह गलती संभव हुई ? उसे समय से क्यों नहीं पकड़ा जा सका ? क्या किया जाए कि भविष्य में उसकी आवृत्ति न हो ? क्या नियमों में ऐसी कोई कमी है जिसका सुधार किया जाना चाहिए ? यह सब करना आवश्यक है और भविष्य में गलती न दोहराई जाए उसके लिए सभी समुचित कदम उठाए जाने चाहिए . मेरे सामने एक ऐसा अवसर उस समय आया जब मैं मुंसिफ था . सिविल न्यायालय के खाते में एक राशि एक पक्षकार को देने के लिए जमा थी . उसने न्यायालय में अदायगी के लिए आवेदन दिया, जो नाजिर के पास उसकी रिपोर्ट के लिए गया . नाजिर ने रिपोर्ट दी कि रुपया जमा है और आवेदक को देय है . फिर वह आवेदन किसी प्रकार से कार्यालय में खो गया . पक्षकार को पर्याप्त प्रतीक्षा के बाद भी जब रुपया नहीं मिला तो आवेदक ने वैसा ही दूसरा आवेदन दिया और वह भी नाजिर के पास उसकी रिपोर्ट के लिए गया . क्योंकि रुपए की अदायगी नहीं हुई थी अतः नाजिर ने वैसी ही रिपोर्ट पुनः दे दी . आवेदन आगे कार्यवाही के लिए अहलमद के पास आया . इसी बीच पहला आवेदन भी मिल गया

और उस पर आगे कार्यवाही की गई तथा उसके आधार पर नाजिर ने आवेदक को रुपया अदा कर दिया . फिर दूसरे आवेदन पर उसी प्रकार कार्यवाही की गई और वह नाजिर के पास गया . किन्तु नाजिर के सावधानी से काम करने तथा उसका कार्य अद्यावधि रहने के कारण दुबारा अदायगी नहीं हो पाई .

41. एक अन्य महत्त्वपूर्ण विषय न्यायाधीश के अपने कार्य-स्थल[1] के समाज से सम्बन्धों का है . यह भी एक नाजुक क्षेत्र है . न्यायाधीश के रूप में नियुक्त होने पर व्यक्ति के लिए अपने पर कुछ सामाजिक बन्धन लगाना आवश्यक हो जाता है . अधिवक्ता के रूप में वह किसी से भी मुक्त रूप से मिल सकता था; वह पान की दुकान पर खड़े होकर वहां पान और सिगरेट भी ले सकता था; वह स्वेच्छानुसार कहीं किसी के भी पास जा सकता था . किसी स्थान पर न्यायाधीश के रूप में पद ग्रहण करने के बाद सम्भवतः वह ऐसा नहीं कर सकता . कारण यह है कि उसके पद के सम्मान और उत्तरदायित्व के कारण उससे इस प्रकार की आशा नहीं की जाती . वह बराबर लोगों की नजरों में रहता है और ऐसा हल्का व्यवहार भी लोगों की नजरों से नहीं बच सकता . बल्कि वह शहर में चर्चा और कड़ी आलोचना का विषय बन जाता है . छोटी जगह पर तो खतरा और भी अधिक होता है . वह वहाँ के लोगों से मुक्त रूप से नहीं मिल सकता क्योंकि न जाने कौन उसके न्यायालय में पक्षकार होकर आ जाए या कौन सा विवाद उसके समक्ष मुकदमे का विषय बन जाए . न्यायाधीश किसी को अपने समीप आने नहीं दे सकता क्योंकि इस बात की आशंका रहती है कि वह उस स्थिति का लाभ उठाकर कोई अनुचित फायदा उठा सकता है . इन्हीं कारणों से न्यायाधीश न्यायालय के बाहर बार के सदस्यों से भी मुक्त रूप से नहीं मिल सकता . अतः न्यायाधीश को अपने संगियों का चयन बड़ी सावधानी से करना पड़ता है . प्रायः वहां के अन्य विभागों के अधि-

1. Station of posting.

कारियों से सम्बन्ध निरापद हो सकता है . सामान्यतः वे स्थानीय व्यक्ति नहीं होते . न्यायाधीश की भांति वे भी आते-जाते रहने वाले होते हैं जो स्थानान्तरण के क्रम में किसी स्थान पर एकत्र हो जाते हैं . अतः स्थानीय विवादों से उनका सम्बन्ध नहीं होता . उस स्थान पर अधिकारियों का क्लब होने पर न्यायाधीश उसमें सम्मिलित हो सकता है . शर्त यही है कि स्थानीय वादकारी वहां न आते हों . यह भी बुद्धिमानी नहीं होगी कि सबसे अलग रह कर चार-पांच व्यक्तियों का मग बराबर रखा जाए . कुछ न्यायाधीश ब्रिज खेलने के शौकीन हो सकते हैं और उसके लिए वे चार-छह व्यक्तियों का एक समुदाय बना सकते हैं . यदि वे लोग विभिन्न विभागों के अधिकारी हों तब तो ठीक है; किन्तु यदि उनमें से कोई स्थानीय अधिवक्ता हो तो उससे नित्य-प्रति का सम्पर्क न्यायाधीश के लिए समस्या उत्पन्न कर सकता है . व्यापार और वाणिज्य में लगे लोग न्यायाधीश से संपर्क के लिए और उसका उपकार करने के लिए बराबर प्रयत्नशील रह सकते हैं, जिससे कि न्यायाधीश के मन में उनके प्रति कोमल भावना हो जाए या उन्हें ऐसी स्थिति मिल जाए जिसका वे अनुचित लाभ उठा सकें. इस सब से बचना आवश्यक है . सबसे निरापद सिद्धान्त यह है कि जो भी सामान लेना हो उसे खुले बाजार में लें तथा मूल्य नकद देकर लें . न कभी गुपचुप खरीद करें, और न उधार लें . किसी को इस बात का अवसर नहीं दिया जाना चाहिए कि न्यायाधीश उसका आभारी हो . अनुकरणीय नियम यह है कि न्यायाधीश के घर पर कोई भी स्थानीय व्यक्ति न्यायाधीश से न मिले और न्यायालय की बातों की उससे चर्चा न्यायालय में और काम के घण्टों के दौरान से अन्यथा न की जाए; और न घर की बातें किसी से न्यायालय में की जाएं .

42. न्यायाधीश के कार्यस्थल की विभिन्न सार्वजनिक संस्थाएं सार्वजनिक कार्यक्रमों मे न्यायाधीश को अध्यक्षता करने के लिए आमंत्रित कर सकती हैं . ऐसे मामले में भी न्यायाधीश को बहुत सतर्क और सावधान रहना चाहिए . आज प्रत्येक स्थान राजनैतिक, सामाजिक या साम्प्रदायिक विवादों से आप्लावित है और संस्थाओं

तक का साथ उसे विवाद में फंसा सकता है . स्वर्णिम सिद्धान्त यही है कि इन सबसे बचें . न्यायाधीश का पद किसी सार्वजनिक या सामाजिक वाहवाही की आकांक्षा नहीं करता .

43. न्यायाधीश के अपने समकक्ष साथियों से कैसे संबंध होने चाहिए ? बड़े स्थान पर प्रायः उसके समान स्तर के भी बहुत से न्यायिक अधिकारी होंगे और न्यायाधीश उनमें से अपने साथी चुन सकता है . वह उन व्यक्तियों को चुन सकता है जिनका स्वभाव उसे अच्छा लगे और अपनी घनिष्ठता उन्हीं तक सीमित रख सकता है . किन्तु जब न्यायाधीश मुख्यालय से दूर स्थान को स्थानान्तरित होता है तो स्थिति भिन्न होती है . हो सकता है कि वहां वह अकेला न्यायिक अधिकारी हो . बहुधा एक-दो अन्य न्यायिक अधिकारी भी हो सकते हैं . प्रश्न उठता है कि इन साथियों से वह न्यायालय के बाहर किस प्रकार का संपर्क रखे .

44. न्यायिक अधिकारी के रूप में जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में उस स्थान के दूसरे न्यायिक अधिकारियों से वर्ष-दो-वर्ष के संपर्क का नवयुवक न्यायिक अधिकारी की जीवन-चर्या के निर्धारण पर बहुत प्रभाव पड़ सकता है . अपने प्रारम्भिक वर्षों में नवयुवक न्यायाधीश पर प्रभाव अधिक शीघ्र पड़ता है और यह स्वाभाविक है कि वह अपने तौर-तरीके, आदतें और जीवन-चर्या उस स्थान के ज्येष्ठ साथियों से ग्रहण करे . यदि ज्येष्ठ साथी सही विचारधारा वाला ठीक न्यायिक अधिकारी हुआ तो उसके लगातार साथ का स्वस्थ प्रभाव नवयुवक न्यायाधीश की जीवन-चर्या पर पड़ सकता है और उसके व्यक्तित्व के उचित विकास में सहायता मिल सकती है . किन्तु यदि ज्येष्ठ साथी गलत व्यक्ति हुआ तब ? यदि वह शराबी या जुआरी हुआ या दुश्चरित्र हुआ, या बेईमान एवं भ्रष्ट न्यायाधीश हुआ, या कामचोर हुआ तब ? ऐसे साथी से कनिष्ठ अधिकारी की जीवन-चर्या और उसका भावी जीवन-क्रम ही गंभीर संकट में पड़ जाएगा . ऐसे मामले में कनिष्ठ न्यायाधीश को बहुत सावधान रहना चाहिए . उसे यह निर्णय करना चाहिए कि क्या ज्येष्ठ अधि-

कारी संग के योग्य है . यदि उसका विचार हो कि उसका साथ उचित नहीं होगा तो कनिष्ठ न्यायाधीश के लिए यह बेहतर होगा कि ज्येष्ठ अधिकारी से यथासंभव अलग रहे . निस्संदेह कनिष्ठ अधिकारी के ऐसा निर्णय करने के लिए परिपक्व न होने पर उक्त प्रकार का निर्णय बहुत गम्भीर निर्णय होगा . फिर भी विनिश्चय तो करना ही होगा . यदि कनिष्ठ न्यायाधीश का जीवन-क्रम उचित और दृढ़ नींव पर आधारित हो तो हमारी समझ में सही और गलत में अंतर करने में उसे बहुत कठिनाई नहीं होगी, और न गलत व्यक्ति से अलग रहने में होगी .

45. अच्छे स्वभाव वाले न्यायाधीशों की भी दो कोटियाँ हो सकती हैं कोई ज्येष्ठ न्यायाधीश अपने कार्य में पूरी रुचि लेता हो सकता है और उस दशा में वह अपने कनिष्ठ साथी से उसकी उन सभी विधिक और न्यायिक समस्याओं पर चर्चा कर सकेगा जो वह उसके समक्ष प्रस्तुत करे . ऐसा ज्येष्ठ एक अच्छा साथी और मार्ग-दर्शक हो सकता है और वह कनिष्ठ के लिए एक अच्छा प्रशिक्षक भी होता है . दूसरे प्रकार का ज्येष्ठ साथी विधिक और न्यायिक चर्चा को न्यायालय तक, और वह भी काम के घण्टों तक, सीमित रख सकता है और अपने खाली समय में उनकी चर्चा से वह बचेगा . यदि कनिष्ठ अधिकारी उसका परामर्श प्राप्त करने के लिए उससे किसी विधिक समस्या पर चर्चा करे तो ज्येष्ठ अधिकारी उसे डांट सकता है, "अब बन्द करो, सारे दिन न्यायालय में यही तो करता रहा हूं; अब कोई और बात करें ." ऐसा ज्येष्ठ न्यायाधीश कनिष्ठ न्यायाधीश के लिए सहायक नहीं होता . वह कनिष्ठ न्यायाधीश बड़ा ही भाग्य-शाली होगा जिसे सभी दृष्टियों से अच्छा ज्येष्ठ साथी मिल जाए . ऐसे साथ से ही स्थायी मित्रता बनती है .

46. अब न्यायाधीश के अपने उच्चाधिकारियों से संबंध की भी चर्चा कर ली जाए, अर्थात् उनसे संबंध की जिनकी अधीनता में वह काम करता है . निश्चय ही उसे अपने वरिष्ठों के प्रति आदरमय, आज्ञाकारी और कौशलपूर्ण होना चाहिए . उनकी अनुमति से उनसे परामर्श

प्राप्त करते हुए उनके बेहतर अनुभव का लाभ उठाना चाहिए. उचित और योग्य वरिष्ठ मिलने पर सीखने को उत्सुक कनिष्ठ न्यायाधीश उससे बहुत कुछ सीख सकता है. किन्तु ऐसा अवसर भी आ सकता है जबकि कनिष्ठ न्यायाधीश को यह लगे कि वरिष्ठ द्वारा कही गई बात बिल्कुल गलत या अमान्य है. ऐसी परिस्थिति में कनिष्ठ न्यायाधीश के लिए बेहतर यह होगा कि उसका सीधा खण्डन न करे. उससे यह न कहे कि उसकी बात गलत है. यदि कनिष्ठ न्यायाधीश ने कह दिया तो हो सकता है कि वरिष्ठ न्यायाधीश क्रुद्ध होकर पूछ बैठे, "कौन अधिक बुद्धिमान् है, तुम या मैं ?" यहां व्यवहार-कुशलता बेहतर होगी. कनिष्ठ न्यायाधीश को चाहिए कि ज्येष्ठ की बात मानते हुए नम्रता से अपना पक्ष इस प्रकार प्रस्तुत करे जैसे वह कठिनाई बता रहा है जिसके उपचार के लिए वह ज्येष्ठ का मार्गदर्शन चाहता है. जैसा कि अभिवचनों के विषय में कहा जाता है, नीति विरोध या सीधे खंडन की न होकर स्वीकार करते हुए भी बचने की होनी चाहिए. आगे-पीछे ज्येष्ठ अधिकारी को भी उस गलती का भान होगा ही, और तब वह उसे सुधार लेगा. यह सलाह मुझे मेरे कनिष्ठ न्यायाधीश होने के दिनों में एक अपर जिला न्यायाधीश ने दी थी, जो बाद में जिला न्यायाधीश हुए और मसूरी स्थित भारतीय प्रशासनिक सेवा के प्रशिक्षण संस्थान के ज्येष्ठ प्राध्यापक के पद से सेवानिवृत्त हुए. मैंने इस सलाह को बराबर मूल्यवान् माना है. अपने वरिष्ठ से संघर्ष करना कभी लाभकारी नहीं होता. वरिष्ठ अधिकारी कनिष्ठ न्यायाधीश की जीवन-वृत्ति बिगाड़ सकता है.

47. न्यायिक अधिकारी के लिए यह सदा उपयोगी होगा कि अपने यहां के समान स्तर वाले अन्य विभागीय अधिकारियों से मित्रता और हार्दिकता का संबंध रखे. निजी या सरकारी मामले में आवश्यकता पड़ने पर उससे बहुत फायदा हो सकता है. इस प्रकार के संबंध बहुधा (यद्यपि सदैव नहीं) निरापद और विश्वसनीय होते हैं.

48. निम्न पंक्ति के न्यायिक अधिकारी के लिए समस्याएं न्यायिक और प्रशासनिक दोनों ही क्षेत्रों में उत्पन्न होती रहती हैं. यह न हो कि जब भी कोई समस्या उठे, न्यायाधीश उसके समाधान के लिए अपने वरिष्ठों के पास दौड़ जाए. प्रयत्न यह करना चाहिए कि अपनी समस्या स्वयं सुलझाए. अधिकांश मामलों में उसे स्वयं ही समाधान मिल जाएगा. गम्भीर और महत्त्वपूर्ण मामलों में ही उसे अपने वरिष्ठों को कष्ट देना चाहिए. न्यायाधीश को अपने में ऐसी योग्यता सम्पादित करनी चाहिए कि अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं निकाल सके. अन्यथा उच्चतर पद पर जाने पर तथा अन्य व्यक्तियों के अपनी समस्याएं लेकर उसके पास आने पर वह उनके लिए समाधान कैसे निकालेगा ? एक बार जब मैं जिला न्यायाधीश था तो एक तहसील के न्यायिक मजिस्ट्रेट का फोन मिला कि तुरन्त उसके यहां पहुंच जाऊं जिससे कि उसके न्यायालय की बहुत सी मूल्यवान् वस्तुओं का सत्यापन हो सके, क्योंकि उसे आशंका थी कि कहीं उसका लिपिक कोई चालबाजी न करे; अतः वह अकेले सत्यापन नहीं करना चाहता. मैंने फोन पर ही उससे कह दिया कि हम नहीं आएंगे और न यह हमारा काम है. बल्कि मैंने उसे डांटा भी कि मजिस्ट्रेट होकर वह अपने ही लिपिक से डरता है. मैंने उसे आदेश दिया कि वह मूल्यवान् वस्तुओं का मूल्यांकन करके रिपोर्ट भेजे. उसने उसका अनुपालन किया और सब काम ठीक हो गया. अनेक अवसरों पर व्यक्ति किसी विशिष्ट स्थिति से अनावश्यक रूप से डर जाता है, जैसे कभी कोई बालक अपनी ही छाया से डर जाता है.

49. जैसा कि मैंने बताया, समस्याएं तो आएंगी ही और न्यायाधीशों को अवसर के अनुरूप बनकर स्वयं उनका समाधान निकालना चाहिए. जिस प्रकार समस्याएं बनी-बनाई नहीं होतीं उसी प्रकार समाधान भी बने-बनाए[1] नहीं होते. भिन्न-भिन्न परि-

1. Ready-made.

स्थितियों में भिन्न-भिन्न समस्याएं उत्पन्न होती रहती हैं और न्यायाधीश की योग्यता उनको सुलझाने का सही तरीका निकालने में होती है .

5. न्यायाधीश को निर्णयज विधि के विषय में अद्यावधि रहना चाहिए . नियतकालिक विधि-पत्रिकाओं का अनुशीलन करते रहने से यह कार्य सरल हो जाता है . जब कोई प्रश्न निर्णय के लिए आए तो न्यायाधीश को चाहिए कि तत्सम्बन्धी सभी निर्णयज विधि का अध्ययन कर ले, विशेषत: उच्च न्यायालयों तथा उच्चतम न्यायालय के निर्णयों का . यह लाभप्रद होगा कि एक रजिस्टर या कापी रखी जाए जिसमें निर्णय इस प्रकार संक्षेप में लिखे जाते रहें कि उनकी आवश्यकता पड़ने पर वे पुन: देखे जा सकें . इसी प्रकार से न्यायाधीश को राज्य, राष्ट्र तथा विश्व की नवीन घटनाओं से परिचित रहना चाहिए . सामान्य ज्ञान के अधिकांश मामलों में उसका ज्ञान अद्यावधि होना चाहिए . आज न्यायाधीश शेष विश्व से अलग किले में बन्द नहीं रहे हैं . न्यायाधीश को अनुभव करना चाहिए कि वह एक शीशे के कमरे में है जहां से वह बाहर का घटनाक्रम देखता रहता है, यद्यपि वह स्वयं उसमें शामिल नहीं होता . उसे यह भी समझना चाहिए कि शीशे के कमरे में रहने के कारण सभी उसे देख सकते हैं और वह भी भली-भांति, क्योंकि वह बराबर प्रकाश में आता रहता है . जनता की राय भी उसे प्रभावित कर सकती है . एक पत्थर से ही उसके शीशे का घर ध्वस्त हो सकता है . उसकी अपनी शराफत और अन्य लोगों की जन्मजात भलाई उसके सबसे सबल त्राण होते हैं और उनसे ही उसको बल मिलेगा .

51. फिर, न्यायाधीश के अपने घर-कुटुम्ब के लोगों से संबंध कैसे हों ? न्यायाधीश को चाहिए कि घर पर विश्रान्त रहे . उसे चाहिए कि न्यायालय की समस्याएं और चिन्ताएं घर ले जाकर चौबीस घण्टे उनसे त्रस्त न रहे . ऐसा न हो कि घर के अन्य सदस्यों को भी न्यायाधीश के साथ मौन पीड़ा सहनी पड़े . दूसरी ओर न्यायाधीश को चाहिए कि घर की अप्रसन्नता और निराशा न्यायालय न

से जाए . न्यायाधीश के लिए स्वर्णिम सिद्धान्त यह है कि न्यायालय छोड़ते ही वहां की बातें और समस्याएं भूल जाए . उसे वहां के मामलों पर दिन-रात चिन्तन नहीं करते रहना चाहिए . अन्यथा वह उसका अपने ही प्रति नहीं अपितु अपने कुटुम्ब के अन्य सदस्यों के प्रति भी अन्याय होगा . न्यायाधीश को अभ्यास बना लेना चाहिए कि न्यायालय के मामले तभी सोचे जब या तो वह न्यायालय में हो या घर के अध्ययन कक्ष में उस दिन लगे मुकदमे देख रहा हो, या किसी मुकदमे का निर्णय तैयार कर रहा हो .

52. सज्जनो, हमे जो कुछ कहना था हमने लगभग पूरा कर लिया . अन्त में एक सलाह और : न्यायाधीश को अनुभव करना चाहिए कि प्रगति और सफलता का कोई संक्षिप्त रास्ता नहीं होता . इन आदर्शों की प्राप्ति का एक-मात्र मार्ग ईमानदारी से किए गए कड़े श्रम का है . यदि न्यायाधीश उसे अपनाएगा तो उसकी उन्नति की कोई सीमा नहीं रहेगी . न्यायमूर्ति श्री डी. जी. पालेकर, अवर श्रेणी सिविल न्यायाधीश (मुंसिफ) के पद से प्रारम्भ करके उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश होने तक बराबर इसी मार्ग पर चले . न्यायाधीश को उसी सही मार्ग पर दृढ़ता से चलना चाहिए . और न्यायाधीश कैसे समझे कि वह सही मार्ग पर चल रहा है या नहीं ? इसके लिए वह अपनी अंतरात्मा की आवाज सुने . वही एक निश्चित मार्ग-दर्शक है . व्यक्ति समग्र ससार से छल-कपट कर सकता है, किंतु अपनी अन्तरात्मा से नहीं . वह सारे संसार से तर्क-कुतर्क करके यह समझा सकता है कि उसने जो किया वह गलत न होकर सही है; किन्तु उसकी अन्तरात्मा की आवाज उसको मौन रूप में ही बता देती है कि तुमने जो किया वह ठीक नहीं है . आप सही रास्ते पर चलने के लिए अपनी अन्तरात्मा की आवाज बराबर सुनें; वही आपको मार्गदर्शक हो . विचारहीन, उतावले और स्वार्थपूर्ण कार्य करके, तथा अपनी अन्तरात्मा की आवाज पर ध्यान न देकर और उसके प्रति बराबर उपेक्षापूर्ण दृष्टि अपना कर व्यक्ति अपनी अंतरात्मा की आवाज को शान्त कर सकता है . और यदि ऐसा हुआ तो

हमारी समझ में उस व्यक्ति का कोई उद्धार नहीं कर सकता क्योंकि उसने स्वयं अपने को उसके अयोग्य बना लिया है .

53. आपकी यात्रा निश्चय ही कठिन और लम्बी है; किन्तु भविष्य उज्ज्वल है . औसत न्यायाधीश उचित परिश्रम और सही तरीके अपनाकर उच्चतम अवसर प्राप्त कर सकता है . मैं आप सब लोगों के लिए सफल न्यायिक जीवन की आकांक्षा करता हूं; आप लोग उन्नति करके सम्मान और आदर के उच्चतम पदों पर पहुंचें . मैं आशा करता हूं कि तीस वर्ष बाद आप में से कुछ तो ऐसी स्थिति में होंगे ही जो न्यायिक सेवा के नए अधिकारियों को हमारी भांति व्याख्यान दें जिससे कि भावी न्यायिक पीढ़ियों के लिए मार्गदर्शक ज्योति-स्तंभ बराबर देदीप्यमान रहे .

सज्जनो ! आप सबके लिए हमारी शुभकामनाएं . धन्यवाद .

—[महाराष्ट्र न्यायिक प्रशिक्षण संस्थान, नागपुर में प्रस्तुत वार्ता से]

आचारात्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षयमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥

– मनु. 4–156 ।

सदाचरण से दीर्घायु एवं मनोवाञ्छित सन्तान प्राप्त होती है ।
उसी से अक्षय धन की प्राप्ति होती है तथा
कुलक्षणों का नाश होता है ।

# न्यायाधीश की आचरण संहिता

— श्री बी.पी. सिंह
रजिस्ट्रार, इलाहाबाद उच्च न्यायालय

1. न्यायाधीश को भारत के संविधान में समाहित सिद्धान्तों को सदैव प्रतिष्ठित करना चाहिए तथा राज्य के नीति-निदेशक तत्वों का विशेष तौर पर ध्यान रखना चाहिए.

2. न्यायाधीश को न्यायपालिका की ईमानदारी और स्वतंत्रता को प्रतिष्ठित करना चाहिए.

स्वतन्त्र और सम्मानित न्यायपालिका हमारे समाज में न्याय के लिए अनिवार्य है. न्यायाधीश को आचरण के उच्च स्तर स्थापित करने, बनाए रखने और पालन कराने में भाग लेना चाहिए और स्वयं भी उनका पालन करना चाहिए जिससे कि न्यायपालिका की ईमानदारी और स्वतन्त्रता बनी रहे.

3. न्यायाधीश को अपने सभी कार्यों में ऐसे आचरण से बचना चाहिए जो अनुचित हों या अनुचित लगें.

(i) न्यायाधीश को विधि के प्रति आदरभाव रखकर उसका पालन करना चाहिए और सदैव इस प्रकार का आचरण करना चाहिए जिससे कि न्यायपालिका की ईमानदारी और निष्पक्षता में जनता का विश्वास बढ़े.

(ii) न्यायाधीश को चाहिए कि अपने कुटुम्ब के, सामाजिक या अन्य संबंधों से वह न्यायाधीश के रूप में अपने आचरण और निर्णय में प्रभावित न हो. दूसरों के निजी हितों की साधना के लिए उसे अपने पद की प्रतिष्ठा का उपयोग नहीं करने देना चाहिए; उसे ऐसी धारणा न बनने देनी चाहिए और न दूसरों को बनाने देनी चाहिए कि कोई अन्य व्यक्ति उसे प्रभावित करने की विशेष स्थिति में है.

4. न्यायाधीश को अपने पद के कर्तव्यों का पालन निष्पक्षता से और अध्यवसायपूर्वक करना चाहिए .

न्यायाधीश के न्यायिक कर्तव्य उसके अन्य सभी क्रियाकलाप के ऊपर होते हैं . उसके न्यायिक कर्तव्यों में उसके पद के वे सभी कर्तव्य आते हैं जो विधि द्वारा विहित हैं .

5. न्यायाधीश विधि, विधिक व्यवस्था और न्याय-प्रशासन में सुधार के कार्यों में भाग ले सकता है .

अपने न्यायिक कर्तव्यों का उचित पालन करते हुए न्यायाधीश निम्नलिखित कोई न्यायिकेतर[1] कार्य भी कर सकता है; किन्तु शर्त यह है कि उससे अपने समक्ष आने वाले किसी प्रश्न का निष्पक्ष निर्णय करने की उसकी सामर्थ्य में संदेह उत्पन्न न हो .

वह विधि, विधिक व्यवस्था और न्याय-प्रशासन के विषयों पर बोल सकता है, लिख सकता है और भाषण दे सकता है एवं उन्हें पढ़ा सकता है तथा तत्संबंधी अन्य कार्य कर सकता है .

6. न्यायाधीश को अपने न्यायिक से भिन्न कार्यों को इस प्रकार करना चाहिए कि उसके न्यायिक कर्तव्यों से विरोध की जोखिम कम से कम रहे .

न्यायाधीश विधि से भिन्न विषयों पर लिख सकता है, बोल सकता है और भाषण दे सकता है, एवं उन्हें पढ़ा सकता है तथा कला, खेलकूद और अन्य सामाजिक एवं मनोरंजनात्मक कार्यों में लग सकता है; शर्त यही है कि वह कार्य न उसके पद की गरिमा को कम करे और न उसके अपने न्यायिक कर्तव्यों के पालन में हस्तक्षेप करे.

7. न्यायाधीश को अपने निजी जीवन में इस प्रकार आचरण करना चाहिए कि उससे न्यायालय की, जो न्याय का मन्दिर है, प्रतिष्ठा बढ़े .

[उत्तर प्रदेश न्यायिक प्रशिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान में 4.9.1987 को वार्ता की रूपरेखा]

---

1. Extra-judicial.

# न्यायाधीश की निर्भीक निष्पक्षता का संरक्षण

– न्यायमूर्ति श्री वी के. मेहरोत्रा
न्यायाधीश, इलाहाबाद उच्च न्यायालय
[अब न्यायाधीश, हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय]

सज्जनो ! आप न्यायालयों के पीठासीन अधिकारियों के रूप में जीवन का एक नया अध्याय प्रारम्भ करने जा रहे हैं . इस अवसर पर आज की चर्चा का प्रयोजन उन विधिक उपबन्धों[1] का कुछ परिचय देने का है जो यह सुनिश्चित करने के लिए हैं कि आप अपने कर्तव्यों का निर्वहन निर्भीकता, अबाधता और गरिमा के साथ करने में समर्थ हों.

**निर्भीक न्यायाधीश** :– प्रभावी विधिक व्यवस्था का सर्वप्रथम लक्षण उसके न्यायाधीशों की निष्पक्षता और निर्भीकता है . दूसरे शब्दों में, पीठासीन अधिकारी के विरुद्ध ऐसी किसी भी बात का विद्यमान न होना जो उसे परस्पर विरोधी पक्षकारों के बीच निर्णायक के रूप में अपने कर्तव्यों के निर्वहन से विरत करे . हमारे विधायकों ने इस ओर ध्यान दिया . बहुत पहले 1850 ई. में ही न्यायिक अधिकारी संरक्षण अधिनियम (अधिनियम सं. 18 सन् 1850) अधिनियमित किया गया . इस अधिनियम का प्रकटित उद्देश्य न्यायिक अधिकारियों के संरक्षण का है . उसकी उद्देशिका[2] में कहा गया है कि यह अधिनियम इसलिए बनाया जा रहा है कि मजिस्ट्रेटों तथा न्यायिक रूप में कार्य करने वाले अन्य व्यक्तियों को और अधिक संरक्षण प्रदान किया जा सके . इसमें यह व्यवस्था है कि किसी भी न्यायाधीश या मजिस्ट्रेट द्वारा उसके अपने न्यायिक कर्तव्यों के निर्वहन में किए गए या आदिष्ट किसी कार्य के लिए उसके विरुद्ध सिविल न्यायालय में कोई कार्यवाही नहीं हो सकेगी, चाहे वह कार्य उसकी अधिकारिता की सीमाओं के भीतर रहा हो या नहीं . यह

1. Legal provisions. 2. Preamble.

शर्त अवश्य है कि उस समय उसका सद्भावपूर्वक यह विश्वास रहा हो कि परिवादित[1] कार्य करने या उसके किए जाने का आदेश देने की उसे अधिकारिता है .

न्यायाधीशों के अभियोजन के संबंध में दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 197 में कहा गया है कि जब किसी ऐसे व्यक्ति पर, जो न्यायाधीश या मजिस्ट्रेट है अथवा था, ऐसे अपराध का आरोप हो जो उसने तब किया बताया गया हो जब वह अपने न्यायिक कर्तव्यों के निर्वहन में कार्य कर रहा था या जब उसका ऐसे कार्य करना तात्पर्यित था, तो कोई न्यायालय ऐसे अपराध का संज्ञान सरकार की पूर्व मंजूरी के बिना नहीं करेगा . इस धारा द्वारा प्रदत्त संरक्षण का उद्देश्य यह है कि अपने पदीय कर्तव्यों के निर्वहन के मामले में उसकी पूर्ण स्वतन्त्रता सुनिश्चित हो जाए . किन्तु यह संरक्षण ऐसे कार्य के संबंध में उपलब्ध नहीं है जो मजिस्ट्रेट या न्यायाधीश के पदीय कर्तव्यों का भाग न कहा जा सके . न्यायाधीश या मजिस्ट्रेट का रिश्वत लेना एक ऐसे कार्य का उदाहरण है जिसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह उसके पदीय कर्तव्यों के निर्वहन में किया गया या कि उसका इस प्रकार किया जाना तात्पर्यित था . इसी प्रकार से उसके द्वारा न्यास-भंग किए जाने पर न्यायाधीश को यह कहने का हक नहीं होगा कि उसके लिए उसका अभियोजन सरकार की मंजूरी के बिना नहीं किया जा सकता .

परिवादित कार्य न्यायाधीश के पदीय कर्तव्यों के निर्वहन में था या नहीं इसकी कसौटी उच्चतम न्यायालय ने हाल में यह निश्चित की है कि उस कार्य और पदीय कर्तव्यों के निर्वहन में युक्तिसंगत संबंध होना चाहिए; अर्थात् ऐसा संबंध होना चाहिए कि न्यायाधीश उचित तौर पर, न कि बहाने या कल्पना के रूप में, यह दावा कर सके कि उसने वह कार्य अपने पदीय कर्तव्यों के दौरान किया [देखिए **– पुखराज बनाम राजस्थान राज्य** – (1973) 3 सु.को.के. 701 : ए.आई.आर. 1973 सु.को. 2591 : (1973) 3 उम.नि.प. 1103] .

हाल में संसद् ने एक अन्य अधिनियम बनाया है, वह है न्याया-

1. complained.

क्षीन (संरक्षण) अधिनियम, 1985. इस अधिनियम के उपबन्ध न्यायाधीशों के संरक्षण के लिए उपबन्ध करने वाले तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि के उपबन्धों के अतिरिक्त है, अल्पीकारक[1] नहीं. "न्यायाधीश" शब्द की दी गई परिभाषा के अनुसार उसमें केवल वही व्यक्ति अभिप्रेत नहीं है जिसका पदनाम 'न्यायाधीश' है अपितु वह व्यक्ति भी है जिसे विधि ने किसी विधिक कार्यवाही में अंतिम निर्णय देने की शक्ति प्रदान की है. इस अधिनियम द्वारा उपबन्धित संरक्षण यह है कि कोई भी न्यायालय किसी ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध, जो न्यायाधीश है या रहा है, किसी ऐसे कार्य, बात या शब्द की बाबत कोई सिविल या दाण्डिक कार्यवाही न ग्रहण करेगा और न जारी रखेगा जो उसने अपने पदीय न्यायिक कर्तव्य या कृत्य के निर्वहन में या उसके दौरान किया या बोला हो या जिसे ऐसे करना या बोलना तात्पर्यित हो. यह संरक्षण उच्च न्यायालय या सरकार के इस अधिकार के अधीन रहते हुए है कि वह किसी ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध, जो न्यायाधीश है या रहा है, सिविल या दाण्डिक या विभागीय या अन्य कार्यवाही करे.

उक्त कानूनी उपबन्ध बिल्कुल स्पष्ट कर देता है कि जो काम आपके पीठासीन अधिकारी के रूप में पदीय कर्तव्यों के निर्वहन में आपके द्वारा किया गया विधितः कहा जा सके उसकी बाबत कोई भी व्यक्ति आपके विरुद्ध सिविल या दाण्डिक कार्यवाही करके आपको तंग नहीं कर सकता. यह केवल तब के लिए ही नहीं है जब आप पीठासीन अधिकारी के रूप में सेवारत हों, अपितु आपके न्यायाधीश या मजिस्ट्रेट न रह जाने के बाद के लिए भी है. इस प्रकार यह गारंटीकृत है कि आप निर्भीक होकर न्याय कर सकते हैं। अपने निर्णयों के कारण आप अपने समक्ष के किसी मामले के किसी पक्षकार के हाथों किसी कठिनाई में नहीं पड़ेंगे.

**गम्भीर कार्यवाही :-** आपकी निर्णय में निर्भीकता और स्वतन्त्रता का सुनिश्चय अन्य प्रकार से भी किया गया है. न्यायालय में की जाने वाली कार्यवाही गम्भीर प्रकृति की होती है. न्यायाधीश या

---

1. In derogation of.

मजिस्ट्रेट के लिए यह सम्भव होना चाहिए कि वह उसे शांतिपूर्वक और गरिमा के साथ चलाए. यदि न्याय के सम्यक् अनुक्रम को अवरुद्ध करने का कोई प्रयास हो तो न्यायालय को इस बात की पर्याप्त शक्ति प्रदान की गई है कि उस स्थिति से निपटे. कुछ ऐसे अपराध हैं जो पीठासीन अधिकारी के समक्ष किए जा सकते हैं और न्यायिक कार्यवाही का ठीक से चलना सुनिश्चित करने की दृष्टि से उनके संबंध में तुरन्त कार्रवाई करना अपेक्षित हो सकता है. उनमें कार्यवाही धारा 345 द.प्र.सं. में उपबंधित ढंग से की जा सकती है. उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति दस्तावेज पेश करने के लिए आबद्ध होते हुए भी उसे न्यायालय के समक्ष जानबूझकर पेश न करे तो वह धारा 175 भा.द.सं. के अधीन अपराध का दोषी होता है. यदि कोई व्यक्ति शपथ लेने के लिए आबद्ध होते हुए भी शपथ लेने से इंकार करे तो वह धारा 178 भा.द.सं. के अधीन दण्डनीय अपराध का दोषी होता है. जो साक्षी किसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए विधितः आबद्ध होते हुए भी उसका उत्तर न दे वह ऐसे अपराध का दोषी होता है जो भा.द.सं. की धारा 179 के अधीन दण्डनीय है. जो व्यक्ति पीठासीन अधिकारी का आशयपूर्वक अपमान करे या उसके समक्ष की न्यायिक कार्यवाही में अवरोध उत्पन्न करे या न्यायिक कार्यवाही के अनुक्रम में सहायता करने वाले किसी अन्य लोक सेवक के कार्य में न्यायालय के सामने ही अवरोध उत्पन्न करे वह धारा 228 भा.द.सं. के अधीन दण्डनीय होता है. उक्त प्रकार के कार्यों से न्यायिक कार्यवाही का अबाध संचालन अवरुद्ध होता है और जब वे न्यायालय के सामने ही किए जाएं तो वे अवमान की कोटि में आते हैं. उन्हें धारा 345 द.प्र.सं. में वर्णित प्रक्रिया का अनुसरण करके दण्डित किया जा सकता है.

यह प्रक्रिया संक्षेप में इस प्रकार है : अपराधी को न्यायालय के निदेश से अभिरक्षा में रखा जा सकता है; न्यायालय उसी दिन उठने के पूर्व किसी समय अपराध का संज्ञान कर सकता है[1] और अपराधी

1. Can take cognizance

को इस बात का कारण प्रकट करने का उचित अवसर देने के बाद कि उसे इस उपबन्ध के अधीन दण्डित क्यों न किया जाए 200 रुपए तक जुर्माना कर सकता है, अथवा जुर्माने की अदायगी न होने पर एक मास तक के सादे कारावास का दण्ड दे सकता है, सिवाय उस दशा के अबकि उसके पूर्व ही जुर्माना अदा कर दिया जाए . न्यायालय से यह अपेक्षित है कि अपराध गठित करने वाले तथ्यों को लेखबद्ध करे और यदि अभियुक्त कोई बयान दे तो वह भी लिखे तथा अपने निष्कर्ष व दण्डादेश भी लेखबद्ध करे . यदि अपराध धारा 228 भा.दं.सं. के अधीन हो तो अभिलेख से यह भी प्रकट होना चाहिए कि वह न्यायिक कार्यवाही किस प्रकार की थी और किस प्रक्रम पर थी जब न्यायालय में अवरोध उत्पन्न किया गया और वह अवरोध या अपमान किस प्रकार से किया गया .

धारा 345 के अधीन न्यायालय की शक्ति एक विशेष शक्ति है जिससे वह अपनी उपस्थिति में किए गए अवमान आदि के लिए कार्रवाई कर सके . उसमें न्यायालय साक्ष्य लेने के लिए आबद्ध नहीं होता . वह हुई घटना के बारे में अपनी राय पर निर्भर करके अपराधी को निरुद्ध कर सकता है, अपराध का संज्ञान कर सकता है, उसे दण्ड दे सकता है . किन्तु यह सब न्यायालय के उठने के पूर्व उसी दिन किया जाना चाहिए . धारा 345 दं.प्र.सं. के अधीन कार्यवाही करने में न्यायालय कारावास का मूल दण्डादेश[1] नहीं कर सकता . कारावास का आदेश जुर्माने की अदायगी न होने की स्थिति के लिए ही हो सकता है . धारा 345 दं.प्र.सं. के अधीन कार्यवाही न्यायालय के अन्यथा किए गए अवमान की कार्यवाही की भांति बहुत सोच-विचार कर की जानी चाहिए . जब पीठासीन अधिकारी को यह लगे कि उसके समक्ष की न्यायिक कार्यवाही में पूर्व वर्णित प्रकार के कार्यों द्वारा जानबूझकर अवरोध उत्पन्न किया जा रहा है तथा अपराधी न्यायकार्य में जानबूझकर व्यवधान उत्पन्न करने पर

1. Substantive sentence.

उतारू है और वह ऐसा बिना उचित कारण के कर रहा है, तब न्यायालय धारा 345 दं.प्र.सं. के अधीन कार्यवाही का आश्रय सामान्यतः ले सकता है. भाव यह है कि न्यायालय को अपनी गरिमा के बारे में अति-संवेदनशील[1] नहीं होना चाहिए. उसे छोटी-मोटी घटना या ऐसे कार्य पर ध्यान नहीं देना चाहिए जो न्यायालय की कार्यवाही को जानबूझकर अवरुद्ध करने के आशय से न किया गया हो. पीठासीन न्यायाधीश को अपने न्यायालय में कार्य करते समय आत्म-नियंत्रण का सदैव प्रयोग करना चाहिए. मानव प्रकृतियों में अंतर तथा विभिन्न व्यक्तियों के अनुशासन के स्तरों में होने वाले अंतर को पीठासीन अधिकारी को न्यायालय में उपस्थित व्यक्तियों के आचरण के सम्बन्ध में कार्यवाही करते समय विस्मृत नहीं करना चाहिए. जब यह लगे कि अपराधी न्यायालय की कार्यवाही में जानबूझकर अवरोध उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहा है तभी धारा 345 दं.प्र.सं. के उपबन्धों का आश्रय सामान्यतः लिया जाना चाहिए.

इस विषय को छोड़ने के पूर्व हम इस बात पर जोर देते हैं कि स्वयं पीठासीन अधिकारी की न्यायालय में भावभंगिमा, आचरण और उक्तियां गरिमापूर्ण होनी चाहिए. ऐसा न होने पर न्यायालय में उपस्थित व्यक्ति स्वच्छन्दता बरत सकता है.

धारा 345 दं.प्र.सं. का मूल उद्देश्य न्यायिक कार्यवाहियों का सुचारु संपादन सुनिश्चित करना है. अतः यदि अपराधी अपने द्वारा की गई बात की बाबत सुधार कर ले या अपने आचरण के लिए हृदय से क्षमा मांगे तो न्यायालय को चाहिए कि उसे उन्मोचित करने या उसे दिए गए दण्ड को माफ करने में न हिचकिचाए. इस प्रकार के आचरण से न्यायालय के प्रति आदरभाव बढ़ेगा ही.

ऐसे मामले हो सकते हैं जिनमें न्यायालय को यह लगे कि उसके सामने किए गए अपराध के लिए उससे अधिक दण्ड दिया जाना चाहिए जिसकी (दो सौ रुपए के जुर्माने की) व्यवस्था धारा 345

---

1. Hypersensitive.

द.प्र.सं. में है . उस स्थिति में न्यायालय वह मामला उसका विचारण करने की अधिकारिता वाले मजिस्ट्रेट को भेज सकता है . ऐसा वह अपराध के अभूत तथ्य तथा अपराधी का बयान लिखने के बाद करेगा . अपराधी से अपेक्षा की जा सकती है कि वह मजिस्ट्रेट के समक्ष उपस्थित होने के लिए जमानत दे और यदि पर्याप्त जमानत उपलब्ध न हो तो अपराधी को मजिस्ट्रेट के पास अभिरक्षा में भेजा जा सकता है . जैसे ही मजिस्ट्रेट को मामला भेजा जाए, वह उसके बारे में कार्यवाही यथासंभव इस प्रकार करेगा जैसे कि उसके समक्ष पुलिस रिपोर्ट लाई गई हो . इस सब की व्यवस्था धारा 346 द.प्र.सं. में है . ऐसे मामले में भी न्यायालय स्वविवेकानुसार अपराधी को उस दशा में उन्मोचित कर सकता है जब वह न्यायालय द्वारा दिए गए उस निदेश को माने जिसकी उपेक्षा के कारण उसके विरुद्ध कार्यवाही की जा रही थी या जब वह न्यायालय से हृदय से क्षमा मांगे .

**न्यायालय का गौरव** : न्यायालय का गौरव बनाए रखने के के लिए उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों को न्यायालय का अवमान करने वाले व्यक्तियों को दण्ड देने की शक्ति प्राप्त है . अभिलेख न्यायालय[1] होने के नाते उन्हें यह शक्ति कानूनी उपबन्धों से अन्यथा भी प्राप्त है . उनके अवमान की कोटि में आने वाले तथ्य उनकी दृष्टि में आने पर वह स्वत: कार्यवाही कर सकते हैं . उस पर और अधिक चर्चा आज अपेक्षित नहीं है . आप महानुभावों की रुचि की बात यह होगी कि न्यायालय के अवमान संबंधी विधि अब न्यायालय अवमान अधिनियम, 1971 में संहिताबद्ध कर दी गई है . इस प्रकार की विधि का मूलभूत प्रयोजन यह सुनिश्चित करना है कि कुछ प्रकार के कार्यों से न्यायालय का प्राधिकार और गरिमा खतरे में न पड़े, बल्कि समग्र रूप से समाज का उनमें विश्वास बना रहे . वस्तुत: यह एक उचित उद्देश्य है क्योंकि जब न्यायालय की दक्षता और गरिमा में आस्था एक बार डिग गई तो न्यायालय

1. Court of record.

व्यवस्थित समाज का बना रहना सुनिश्चित करने की आवश्यक भूमिका निभाने से वंचित हो जाएगा.

1971 का अधिनियम :-न्यायालय अवमान अधिनियम में परिभाषित "अवमान" दो प्रकार का है : सिविल और आपराधिक. सिविल अवमान में किसी न्यायालय के निर्णय, डिक्री, निदेश, रिट या अन्य आदेशिका का जानबूझकर उल्लंघन या न्यायालय को दिए गए वचनपत्र को जानबूझकर भंग करना आता है. आपराधिक अवमान में किसी ऐसी सामग्री का शब्दों, संकेतों या अन्य दृश्य चित्रणों द्वारा प्रकाशन या ऐसा कोई कार्य करना आता है जो किसी न्यायालय की बदनामी करे या बदनामी करने की प्रवृत्ति रखे या किसी न्यायिक कार्यवाही के सम्यक् क्रम पर प्रतिकूल प्रभाव डाले, या इसमें हस्तक्षेप करे, या हस्तक्षेप की प्रवृत्ति रखे. यदि उच्च न्यायालय किसी व्यक्ति को न्यायालय का अवमान करने का दोषी पाए तो वह अवमानकर्ता को छह मास तक के सादे कारावास से अथवा दो हजार रुपए तक के जुर्माने से या दोनों से दण्डित कर सकता है. उच्च न्यायालय यह दण्ड अपने अवमान के लिए ही नहीं अपितु अपने अधीनस्थ किसी अन्य न्यायालय के अवमान के लिए भी दे सकता है. न्यायालय अपने द्वारा दिया गया दण्ड माफ कर सकता है, या यदि उस अभियुक्त द्वारा की गई क्षमायाचना से संतोष हो जाए तो वह अभियुक्त को निर्मोचित कर सकता है. यदि क्षमायाचना सद्भावपूर्वक की जाए तो उसे केवल इस आधार पर अस्वीकार नहीं करना चाहिए कि वह आंशिक या सशर्त है.

यदि अवमान के लिए दण्डादेश उच्च न्यायालय के दो या अधिक न्यायाधीशों के न्यायपीठ द्वारा दिया जाए तो उसके विरुद्ध अपील उच्चतम न्यायालय में हो सकती है. एकल न्यायाधीश द्वारा दिए गए आदेश के विरुद्ध अपील उच्च न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ के समक्ष की जा सकती है, जिसमें दो से कम न्यायाधीश न हों. उच्च न्यायालय अपना यह समाधान होने पर आदेश को निलम्बित कर सकता है कि न्यायालय का अवमान करने वाला व्यक्ति अपील करना

चाहता है . अपील न्यायालय दण्डादेश को अपील के दौरान के लिए निलम्बित भी कर सकता है .

जहां तक कि उच्च न्यायालयों के अधीनस्थ न्यायालयों का संबंध है, उन्हें कथित अवमान वाले तथ्य उच्च न्यायालय की जानकारी में लाने होंगे . तब उच्च न्यायालय विनिश्चय करेगा कि वह उसका संज्ञान करेगा या नहीं . कथित आपराधिक अवमान के सम्बन्ध में राज्य का महाधिवक्ता भी उच्च न्यायालय में आवेदन दे सकता है . महाधिवक्ता की लिखित सम्मति से कोई अन्य व्यक्ति भी आवेदन दे सकता है . यह बात अधिनियम की धारा 18 में दी गई है और उस अवमान से सम्बन्धित है जो उच्च न्यायालय के सामने या उसकी दृष्टि में किए गए अवमान से भिन्न हो . अधिनियम की धारा 14 उच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय की दृष्टि में किए गए अवमान के विषय में है .

अवमान के लिए कार्यवाही उस दिन से एक वर्ष के भीतर प्रारम्भ की जानी चाहिए जबकि अवमान किया जाना कथित हो . इसकी व्यवस्था अधिनियम की धारा 20 में है .

जब उच्च न्यायालय आपराधिक अवमान का संज्ञान करे तो नोटिस की तामील स्वयं अभियुक्त पर होनी चाहिए . नोटिस के साथ, यदि कार्यवाही किसी आवेदन के आधार पर हुई हो तो उसकी प्रति, और यदि किसी अधीनस्थ न्यायालय द्वारा किए गए निर्देश पर हो तो उसकी प्रति, होनी चाहिए . यदि न्यायालय का समाधान हो जाए कि धारा 15 के अधीन आरोपित व्यक्ति के भाग जाने की सम्भावना है जिससे कि वह नोटिस की तामील से बचे तो वह उसकी उतने मूल्य की सम्पत्ति की कुर्की का आदेश दे सकता है, जितना वह उचित समझे . कुर्की उसी प्रकार से की जाएगी जिसका विधान धन की अदायगी के लिए डिक्री के निष्पादन में सम्पत्ति की कुर्की के लिए सिविल प्रक्रिया संहिता में है . आपराधिक अवमान में आरोपित व्यक्ति अपनी प्रतिरक्षा के समर्थन में शपथपत्र दाखिल कर सकता है . न्यायालय मामले का निर्णय दाखिल किए गए शपथपत्रों के आधार पर कर सकता है,

या ऐसा अतिरिक्त साक्ष्य लेकर कर सकता है जो वह आवश्यक समझे, और मामले में न्याय की अपेक्षा के अनुसार आदेश कर सकता है.

अधिनियम की धारा 10 में कहा गया है कि अपने अधीनस्थ न्यायालयों के अवमान के विषय में उच्च न्यायालय को वही शक्ति, प्राधिकार और अधिकारिता प्राप्त होगी जो उसको अपने अवमान के विषय में है. किन्तु यदि कथित अवमान भारतीय दण्ड संहिता के अधीन दण्डनीय अपराध हो तो अपने अधीनस्थ किसी न्यायालय के सम्बन्ध में किए गए या बताए गए ऐसे अवमान का उच्च न्यायालय संज्ञान नहीं करेगा. उच्च न्यायालय अपने अवमान के अथवा अपने अधीनस्थ किसी न्यायालय के अवमान के मामले में स्वतः जाँच और विचारण कर सकता है, वह अवमान चाहे उसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर किया गया बताया गया हो या उनके बाहर और कथित अवमानकर्ता उक्त सीमाओं के चाहे भीतर हो चाहे बाहर. धारा 11 में यही कहा गया है. धारा 23 के अधीन उच्च न्यायालय नियम बना सकता है जो अधिनियम के उपबन्धों से असंगत न हों और जो उस विषय में प्रक्रिया संबंधी किसी बात का विधान करें. इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने इस धारा के अधीन नियम बनाए हैं जो न्यायालय अवमान (इलाहाबाद उच्च न्यायालय) नियमावली, 1977 कहलाते है.

धारा 22 के अनुसार इस अधिनियम के उपबन्ध न्यायालय अवमान विषयक किसी अन्य विधि के उपबन्धों के अतिरिक्त हैं, उनके अल्पीकारक नहीं. धारा 9 में कहा गया है कि इस अधिनियम की किसी बात का यह अर्थ नहीं लगाया जाएगा कि उसमें यह विवक्षित[1] है कि कोई अवज्ञा, भंग, प्रकाशन या अन्य कोई कार्य जो इस अधिनियम से अन्यथा दण्डनीय नहीं है, न्यायालय अवमान के रूप में दण्डनीय है.

---

1. Implied.

अधिनियम की धारा 2 में दी गई सिविल और आपराधिक अवमान की परिभाषाओं के बाद कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण उपबन्ध हैं जो यहाँ उल्लेखनीय हैं. ये हैं धारा 3 से 8 तक. संक्षिप्ततः, उनमें कहा गया है कि यदि प्रकाशन किसी ऐसे समय किया जाए जबकि सिविल या दाण्डिक कार्यवाही न्यायालय के समक्ष वस्तुतः लम्बित नहीं थी, या अपराधी को यह मानने के लिए उचित आधार न हो कि कार्यवाही लम्बित है, अथवा यदि प्रकाशन न्यायिक कार्यवाही का उचित और सही विवरण हो तो वह अवमान की कोटि में नहीं आएगा. इसी प्रकार से, यदि मुकदमा सुनकर उसका निर्णय कर दिया गया हो तो मामले के गुणागुण पर उचित टीकाटिप्पणी भी अवमान की कोटि में नहीं आएगी. किसी अधीनस्थ न्यायालय के पीठासीन अधिकारी के विरुद्ध उच्च न्यायालय या किसी अन्य अधीनस्थ न्यायालय से सद्भावपूर्वक किसी व्यक्ति द्वारा किया गया कोई कथन न्यायालय के अवमान की कोटि में नहीं आएगा.

कोई न्यायाधीश, मजिस्ट्रेट या न्यायिक कार्य करने वाला अन्य व्यक्ति भी अपने न्यायालय या दूसरे न्यायालय के अवमान का दोषी हो सकता है. अधिनियम की धारा 16 में इसको कानूनी मान्यता दी गई है.

**विहंगम दृष्टि :–** समाप्त करने के पूर्व हम आपको मोटे तौर पर बता दें कि न्यायालयों ने किस बात को अवमान की कोटि में आने वाला माना है. कानूनी उपबन्धों का संकेत पहले दिया जा चुका है. अवमान की कार्यवाही की प्रकृति उसके उद्देश्य की पृष्ठभूमि में समझी जानी चाहिए. भावना यह है कि ऐसे सब कार्यों को अवमान मानकर दण्डित किया जाए जो न्यायालय को अवरुद्ध या तंग करने या परेशान करने के लिए किए गए हों. अवमान कोई भी रूप ग्रहण कर सकता है. कोई भी कार्य, अपमान-वचन या अवज्ञापूर्ण उक्ति अवमान हो सकती है. वह किसी समाचार, रिपोर्ट या लेख में हो सकती है. न्यायालय के आदेश का उल्लंघन भी अवमान हो सकता है. कोई ऐसा आचरण जिससे कि न्यायालय की

प्रतिष्ठा और प्रभाव घटे या जिससे जनमानस में न्यायालय के प्रति आदरभाव घटे या जिससे यह धारणा बने कि केवल कुछ तरकीबें अपनाकर न्यायालय के आदेश का मुक्त रूप से उल्लंघन किया जा सकता है, अवमान की कोटि में आएगा . यह बात महत्त्वहीन है कि वह आदेश वैध है या नहीं .

यदि मुकदमा न्यायालय में विचाराधीन हो तो कोई भी उस पर ऐसी टीकाटिप्पणी न करे जिससे कि उसके विचारण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने का वास्तविक या पर्याप्त खतरा हो, और वह न्यायाधीश या साक्षी पर प्रभाव डालकर या जनसामान्य में प्रतिकूल भावना उत्पन्न करके . विधि केवल उन्हीं कार्यों के लिए दण्ड का विधान नहीं करती जो न्याय-प्रशासन के कार्य में हस्तक्षेप करते हैं, अपितु उनके लिए भी दण्ड का विधान करती है जिनकी प्रवृत्ति उस प्रकार की हो . उच्चतम न्यायालय के अनुसार अवमान के मुख्य रूप हैं : न्यायाधीशों का अपमान, उन पर आक्रमण, विचाराधीन कार्यवाही के सम्बन्ध में उक्ति, विचारण पर प्रतिकूल प्रभाव डालने की प्रवृत्ति वाली टीका-टिप्पणी करना, न्यायालय के अधिकारियों या पक्षकारों के काम में बाधा डालना, न्यायालय की कार्यवाही का दुरुपयोग[1], न्यायालय से सम्बन्धित अधिकारियों द्वारा कर्तव्य-भंग, और न्यायाधीश या न्यायालय की बदनामी करना तथा न्यायालय के आदेशों का उल्लंघन करना .

अवमान की कार्यवाही एक विशेष प्रकार की कार्यवाही है जिसमें न्याय संक्षिप्ततः किया जाता है . उसका आश्रय कम-से-कम लिया जाना चाहिए; तभी लिया जाना चाहिए जबकि स्थिति उतनी गंभीर हो . न्यायालय के अवमान के लिए दण्ड देने की शक्ति का प्रयोग प्रायः तब नहीं किया जाता जबकि अवमान केवल तकनीकी, नाममात्र का, या तुच्छ हो . ऐसे मामलों में यदि अवमानकर्ता द्वारा वास्तविक खेद प्रकट किए जाने पर न्यायालय का समाधान हो जाए

1. Abuse of trial process of court.

तो वह उसे दण्डित नहीं करता . न्यायालय अवमान के मामले में न्यायालय अभियोजक भी होता है और न्यायाधीश भी . अत: जब अवमानपूर्ण आचरण का स्पष्ट मामला, जिसके लिए कोई अन्य स्पष्टीकरण न हो, सिद्ध हो जाए तभी अवमानकर्ता को दण्ड दिया जाता है . न्यायिक प्राधिकारी नाममात्र की उपेक्षा के विषय में अतिप्रतिक्रियाशील नहीं होता .

न्यायालय के पीठासीन अधिकारी को भी गरिमा और आत्म-नियंत्रण के साथ कार्य करना होता है . जब वह न्यायालय में उपस्थित होने वाले अधिवक्ता का अपमान करता है या उसे गाली देता है या धमकाता है तो वह भी न्यायालय के अवमान का उतना ही दोषी हो सकता है, क्योंकि इस प्रकार का आचरण उचित न्याय-प्रशासन के क्रम में हस्तक्षेप करता है और न्यायालय की गरिमा घटाता है . यह सही है कि पीठासीन अधिकारी का कर्तव्य होता है कि अपने न्यायालय की कार्यवाही का विनियमन करे और वहां शिष्टता बनाए रखे . किन्तु यह कार्य गरिमापूर्ण ढंग से किया जाना चाहिए, जो न्यायालय की प्रतिष्ठा के अनुकूल हो, न कि किसी क्रुद्ध, अपशब्दात्मक या असम्भ्रान्त रूप में जिससे न्यायालय में शालीनता घटे . **बार एसोसिएशन लाइब्रेरी, मुरादाबाद बनाम एस.एल. कुठारी, उपखण्ड मजिस्ट्रेट, अमरोहा** – 1966 इ.ला ज. 953 में न्यायालय का पीठासीन अधिकारी, अधिवक्ता के प्रति क्रूर और निम्न स्तर का व्यवहार करने के कारण अपने ही न्यायालय के अवमान का दोषी ठहराया गया .

न्यायालय के अवमान के उदाहरण लाखों हो सकते हैं . उन सब की कल्पना करना संभव नहीं है . किन्तु स्वर्णिम नियम यही है कि न्यायालय के अवमान के लिए दण्ड देने की शक्ति रखने वाले व्यक्ति को किसी के विरुद्ध इस बाबत कोई कार्यवाही करने के पूर्व बहुत संयम तथा सर्वतोमुखी दृष्टि से काम लेना चाहिए .

[उत्तर प्रदेश न्यायिक प्रशिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान में 12.5.1987 की वार्ता से]

# राजस्व और चकबन्दी के मामलों में सिविल न्यायालय की अधिकारिता का वर्जन

— न्यायमूर्ति श्री कैलाश नाथ मिश्र
न्यायाधीश, इलाहाबाद उच्च न्यायालय

यह स्पष्टतः समझ लेना चाहिए कि न्यायालय की "अधिकारिता"[1] से तात्पर्य न्यायालय के विषयवस्तु, मूल्य और स्थानीय सीमाओं की दृष्टि से न्याय-प्रशासन करने के अधिकार के विस्तार से होता है. किसी विषय में यह निष्कर्ष निकालने के लिए कि न्यायालय की अधिकारिता है, इतना ही पर्याप्त नहीं है कि उसे लाए गए वाद के विचारण की अधिकारिता हो, अपितु यह भी आवश्यक है कि उसे वांछित आदेश करने का भी प्राधिकार हो. संक्षेप में "अधिकारिता" से न्याय-प्रशासन करने की शक्ति का विस्तार अभिप्रेत होता है, अर्थात् विनिश्चय के लिए औपचारिक रूप से प्रस्तुत मामलों का संज्ञान करना[2] तथा अपने समक्ष विवादित मामलों का विनिश्चय करना, चाहे वह आरम्भिक अधिकारिता वाले न्यायालय के रूप में हो, चाहे अपील या पुनरीक्षण न्यायालय के रूप में. अतः यह आवश्यक है कि न्यायालय यह देख ले कि उसके समक्ष लाए गए वाद को ग्रहण करके उसका विनिश्चय करने की अधिकारिता उसे है या नहीं. यदि न्यायालय को कोई वाद ग्रहण करने और उसका विनिश्चय करने की अधिकारिता हो तो उसके द्वारा पारित डिक्री शून्य नहीं होगी, भले ही वह मामले के तथ्यों और उसे लागू विधि की दृष्टि से गलत और न टिक सकने वाली हो. केवल इस कारण कि वाद के किसी विवाद्यक[3] का विनिश्चय करने में न्यायालय ने भूल की, यह नहीं कहा जा सकता कि उसने अधिकारिता के बिना कार्य किया. वाद का विनिश्चय करने की अधिकारिता रखने वाले न्यायालय द्वारा

1. jurisdiction. 2. take cognizance. 3. issue

पारित डिक्री की कोई भूल स्वयं उस न्यायालय द्वारा पुनर्विलोकन[1] की शक्ति (यदि हो) का प्रयोग करके, अथवा अपील या पुनरीक्षण न्यायालय द्वारा सुधारी जा सकती है. इस प्रकार न्यायालय की किसी विषय पर विचार करके उसका अवधारण करने की अधिकारिता तथा उस अधिकारिता का प्रयोग करके उस न्यायालय द्वारा किए गए कार्य में स्पष्ट अंतर है. प्रथमोक्त में वाद ग्रहण करने की शक्ति का प्रश्न उठता है, जबकि उत्तरोक्त में वाद के गुणागुण पर विनिश्चय की बात आती है.

उस दशा के सिवाय जबकि सिविल न्यायालय द्वारा संज्ञान अभिव्यक्त[2] या विवक्षित[3] तौर पर वर्जित हो, सिविल न्यायालय को सिविल प्रकृति का प्रत्येक वाद ग्रहण करने की अधिकारिता होती है. जहां दावा सिविल प्रकृति का हो वहां उपधारणा[4] यह की जानी चाहिए कि सिविल न्यायालय द्वारा वाद ग्राह्य है. सिविल न्यायालय की अधिकारिता का वर्जन या तो स्पष्ट शब्दों में व्यक्त होना चाहिए या स्पष्टतः विवक्षित होना चाहिए. माननीय उच्चतम न्यायालय ने धूलाभाई बनाम मध्य प्रदेश राज्य – 1969 सु.को. 78 [(1968) 2 उम.नि.प. 370] में तथा अन्य अनेक निर्णयों [1964 सु.को. 322, 1964 सु.को. 1873, 1966 सु.को. 249, 1966 सु.को. 893, 1966 सु.को. 1089 और 1968 सु.को. 271] में सिविल न्यायालय की अधिकारिता के वर्जन विषयक प्रश्न के विनिश्चय के सिद्धान्त और मानदण्ड बताए हैं. उनका संक्षेप इस प्रकार है: (1) जब कानून विशेष अधिकरणों के आदेशों को अंतिमता प्रदान करे तो सिविल न्यायालय की अधिकारिता उस दशा में वर्जित मानी जानी चाहिए जब उस विशेष अधिकरण द्वारा तद्-विषयक ऐसा पर्याप्त उपचार दिए जाने की व्यवस्था हो जो कोई सिविल न्यायालय वाद में सामान्यतः प्रदान करता.

(2) जहां सिविल न्यायालय की अधिकारिता का अभिव्यक्त

1. review.
2. express.
3. implied.
4. presumption.

रूप से वर्जन हो वहां सुसंगत अधिनियम की योजना[1] की इस दृष्टि से परीक्षा कि उपबन्धित उपचार पर्याप्त है या नहीं, सुसंगत हो सकती है; किन्तु वह सिविल न्यायालय की अधिकारिता ठहराने के लिए निश्चायक नहीं होती . हां, जहां अभिव्यक्त रूप से वर्जन न हो वहां संबंधित अधिनियम में दिए गए उपचारों और उसकी योजना की परीक्षा उसके आशय का पता लगाने के लिए आवश्यक हो जाती है और उस जांच से निकाला गया निष्कर्ष निश्चायक होगा .

(3) यदि कानून में अधिकार[2] या दायित्व[3] के अवधारण के लिए यह विधान हो कि वह कहां होगा और साथ ही उसमें सिविल न्यायालय की वह वाद ग्रहण करने और उसका विनिश्चय करने की अधिकारिता का अभिव्यक्त रूप से या विवक्षित तौर पर वर्जन हो तो सिविल न्यायालय को ऐसा वाद या कार्यवाही ग्रहण करने और उसका विनिश्चय करने की अधिकारिता नहीं होगी .

(4) सिविल न्यायालय की अधिकारिता के वर्जन की उपधारणा नहीं की जा सकती . ऐसा वर्जन अधिनियमिति के अभिव्यक्त उपबन्धों से या उसकी अनिवार्य विवक्षा से निकलना चाहिए .

कृषिक भूमि में अधिकार, हक और हित[4] संबंधी मामलों के लिए विशेष अधिनियम हैं, जो यह विधान करते हैं कि तद्विषयक विवाद का निर्णय कहां किया जाएगा . इनमें अभिव्यक्त उपबन्ध होते हैं कि अधिनियम की अनुसूची में गिनाए गए वादों के विषय में सिविल न्यायालय को अधिकारिता नहीं होगी . भूमि विषयक इन विधियों में यह मिलेगा कि कृषिक भूमि में अधिकार और हक संबंधी विवादों का विनिश्चय करने की अधिकारिता राजस्व न्यायालयों को दी गई है और सिविल न्यायालयों की ऐसे वादों में अधिकारिता स्पष्ट तौर पर वर्जित है . किन्तु जो कानून सिविल न्यायालय की अधिकारिता छीनकर विशिष्ट अधिकारिता का सृजन करते हैं उनका अर्थ

1. scheme.
2. rights.
3. liabilities.
4. right, title and interest.

कड़ाई से और यह स्मरण रखते हुए किया जाना चाहिए कि जहां कृषिक भूमि सम्बन्धी विवादों के विनिश्चय के लिए विशेष कानून के अधीन राजस्व न्यायालय को या उस कानून के अधीन सृजित विशेष प्राधिकारी को अधिकारिता प्रदान की जाए वहां सिविल न्यायालय की अधिकारिता वर्जित होगी, भले ही अनन्य[1] अधिकारिता वाला न्यायालय वे सब अनुतोष न दे सके जिनकी मांग उस वाद में की गई हो.

उ.प्र. जमींदारी-विनाश और भूमि-व्यवस्था अधिनियम, 1950 लागू किए जाने के पूर्व संयुक्त प्रान्त अभिधृति अधिनियम, 1939 (यू. पी. टैनेन्सी ऐक्ट) की धारा 242 में एक स्पष्ट उपबन्ध था कि चतुर्थ अनुसूची में वर्णित प्रकृति के सभी वाद और आवेदन केवल राजस्व न्यायालयों द्वारा ग्रहण और विनिश्चित किए जा सकेंगे. इस उपबन्ध में संयुक्त प्रान्त अधिनियम संख्या 10 सन् 1947 द्वारा संशोधन करके स्पष्ट उपबन्ध कर दिया गया कि यदि जिस वाद-हेतुक[2] पर वाद या आवेदन आधारित हो वह ऐसा हो कि वादी उसके आधार पर राजस्व न्यायालय में किसी भी अनुतोष का दावा कर सकता हो तो उसे उपचार के लिए वहां ही जाना चाहिए. कृषिक भूमि सम्बन्धी वादों को ग्रहण करने और उन वादों के विनिश्चय के विषय में सिविल न्यायालयों की अधिकारिता बहुत कम कर दी गई और राजस्व न्यायालयों को बहुत व्यापक अधिकारिता प्रदान कर दी गई. यह धारा 242 में जोड़े गए एक स्पष्टीकरण से स्पष्ट होता था. उसमें कहा गया था कि यदि वाद-हेतुक ऐसा हो जिसकी बाबत कोई अनुतोष राजस्व न्यायालय द्वारा दिया जा सकता हो तो यह महत्त्वहीन है कि सिविल न्यायालय से मांगा गया अनुतोष वही नहीं है जो राजस्व न्यायालय दे सकता था. एक अन्य स्पष्टीकरण में यह और कहा गया था कि यदि वाद-हेतुक ऐसा हो जिसकी बाबत राजस्व न्यायालय धारा 180 के अधीन अनुतोष दे सकता था

1. exclusive. 2. cause of action.

तो यह महत्त्वहीन है कि सिविल न्यायालय से मांगा गया अनुतोष उससे अधिक या उसके अतिरिक्त है जो राजस्व न्यायालय दे सकता था . धारा 242 में जोड़े गए इन दो स्पष्टीकरणों ने कृषिक भूमि सम्बन्धी ऐसे मामलों में सिविल न्यायालय की अधिकारिता पूर्णतः वर्जित कर दी जिनकी बाबत अधिनियम की चतुर्थ अनुसूची में वर्णित प्रकृति का कोई वाद या आवेदन दिया जा सकता था .

उक्त उपबन्धों पर उच्च न्यायालय ने **परमेश्वरी दास बनाम अंगन लाल** – 1944 रेवेन्यू डिसीजन्स 173 में विचार करके कहा था कि यह धारा केवल उन वादों को सिविल न्यायालय की अधिकारिता के बाहर करेगी जो ऐसे वाद-हेतुक पर आधारित हों जिसकी बाबत अनुतोष राजस्व न्यायालय में वाद द्वारा मिल सकता हो और "अनुतोष" से तात्पर्य संपूर्ण अनुतोष से भले ही न हो, किन्तु यह भी नहीं है कि केवल महत्त्वहीन अनुतोष मिल सकता हो; और धारा में प्रयुक्त "अनुतोष" शब्द का स्वाभाविक अर्थ लिया जाना चाहिए कि अनुतोष या तो वह हो जिसकी वादी मांग करे या उसका पर्याप्त भाग हो . इस पर विधान-मण्डल ने धारा 242 का संशोधन करना आवश्यक समझा और उस धारा में उक्त दो स्पष्टीकरण जोड़ दिए गए .

यह सुप्रतिष्ठित है कि वादी को उसी न्यायालय में वाद प्रस्तुत करना होता है जिसे अधिकारिता हो . यद्यपि न्यायालय की अधिकारिता का अवधारण प्रथमतः वादपत्र में कही गई बातों, बताए गए वाद-हेतुक और मांगे गए अनुतोष के आधार पर होता है; किन्तु वादी वाद को राजस्व न्यायालय की अधिकारिता के बाहर केवल इस प्रकार नहीं ले जा सकता कि अपना वाद-हेतुक इस प्रकार बताए और इस प्रकार अनुतोष मांगे जिससे कि सिविल न्यायालय को अधिकारिता मिल जाए . इस प्रकार यदि सिविल न्यायालय में इस रूप में लाए गए वाद का उद्देश्य उसे राजस्व न्यायालय की अधिकारिता के बाहर करना या प्रतिवादियों द्वारा राजस्व न्यायालय में लाए जाने वाले वाद के विरुद्ध पेशबन्दी करना हो तो सिविल न्यायालय को वह वाद ग्रहण करने की अधिकारिता नहीं होगी · **अनन्ती बनाम छन्नू**

– **आल इंडिया रिपोर्टर** 1930 इला. 193 में बहुत पहले यह निर्णय किया गया था कि केवल स्थायी व्यादेश[1] का अनुतोष जोड़ देने से वाद राजस्व न्यायालय की अधिकारिता से बाहर नहीं हो जाएगा. यही दृष्टिकोण बाद के निर्णयों में अपनाया गया. इस प्रकार **मोहम्मद उमर खां बनाम इदरीस मोहम्मद मनी** – आ. इ.रि. 1980 इला. 89 में यह निर्णय किया गया कि वादपत्र में कही गई बातों के सारतत्त्व की समीक्षा की जानी होगी और यदि उन बातों के आधार पर राजस्व न्यायालय से पर्याप्त या संतोषप्रद अनुतोष मिल सकता हो तो, भले ही सिविल न्यायालय से मांगा गया अनुतोष ऐसे शब्दों में हो कि वह राजस्व न्यायालय की अधिकारिता के बाहर पड़े, वह वाद राजस्व न्यायालय द्वारा ही विचारणीय होगा.

**राम अवलम्ब बनाम जटाशंकर** – 1969 इला.ला ज. 1108 में उच्च न्यायालय के पूर्ण न्यायपीठ ने निर्णय किया कि यदि वाद-पत्र में मांगा गया मुख्य अनुतोष सिविल न्यायालय द्वारा संज्ञेय हो तो वाद में मांगा गया आनुषंगिक अनुतोष भी सिविल न्यायालय द्वारा वादी को दिया जा सकेगा; किन्तु यदि मुख्य अनुतोष के बारे में वह वाद राजस्व न्यायालय द्वारा विचारणीय हो तो सिविल न्यायालय की अधिकारिता वर्जित होगी तथा वह वाद राजस्व न्यायालय द्वारा ही ग्रहण किया जा सकेगा.

इस प्रकार से वाद-हेतुक तथा मांगे गए अनुतोष का सारतत्त्व सिविल न्यायालय की अधिकारिता के विनिश्चय के लिए महत्त्वपूर्ण है. केवल व्यादेश का अनुतोष जोड़ देने से मामला राजस्व न्यायालय की अधिकारिता के बाहर नहीं हो जाएगा. किन्तु यदि वादी केवल व्यादेश के लिए वाद प्रस्तुत करके कहे कि वही वादगत भूमि का खातेदार है और राज्य सरकार या गांव सभा द्वारा उसके हक के सम्बन्ध में कोई विवाद न हो तथा वादी का नाम राजस्व अभिलेख में दर्ज हो तो व्यादेश के लिए वाद, जिसमें यह स्थायी व्यादेश मांगा

1. permanent injunction.

गया हो कि प्रतिवादी को वादी के कब्जे में हस्तक्षेप करने से रोका जाए, सिविल न्यायालय में चल सकेगा .

**परषोत्तम बनाम नरोत्तम** – 1970 इला.ला ज. 505 में एक खण्ड न्यायपीठ ने निर्णय किया कि केवल ऐसे व्यादेश के लिए वाद सिविल न्यायालय में चल सकता है कि प्रतिवादी को भूमि पर खड़ी फसल काटने से रोका जाए . यह ध्यान देने योग्य है कि उस वाद में राजस्व अभिलेख की प्रविष्टियां वादी के उस भूमि का खातेदार होने के दावे का समर्थन करती थीं तथा गाँव सभा या राज्य सरकार के विरुद्ध कोई अनुतोष नहीं मांगा गया था . इन परिस्थितियों में निर्णय किया गया कि वादी के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह उ.प्र. जमींदारी-विनाश और भूमि-व्यवस्था अधिनियम की धारा 229-ख के अधीन घोषणा के लिए वाद राजस्व न्यायालय में दाखिल करे . वह वाद सिविल न्यायालय में चलने योग्य ठहराया गया . साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि भले ही वाद सिविल न्यायालय में चलने योग्य हो, फिर भी न्यायालय केवल प्रविष्टियों के आधार पर अपना निर्णय वादी के पक्ष में नहीं देगा और यदि यह प्रश्न उठाया जाए कि वादी वादगत भूमि का खातेदार है या नहीं और मांगे गए अनुतोष का हकदार है या नहीं, तो वह उस प्रश्न का विनिश्चय गुणागुण के आधार पर करेगा .

माननीय उच्चतम न्यायालय ने **चन्द्रिका सिंह बनाम भय्या लाल** – 1973 रे.डि. 365 [(1973) 3 उम.नि.प. 767] में निर्णय किया कि सिविल न्यायालय को ऐसे वाद का निर्णय करने की अधिकारिता नहीं है जो उ.प्र. जमींदारी-विनाश और भूमि-व्यवस्था अधिनियम की धारा 331 को देखते हुए अनन्यतः राजस्व न्यायालय द्वारा विचारणीय है . माननीय उच्चतम न्यायालय ने यह दृष्टिकोण इस आधार पर अपनाया कि उसमें कब्जे का भी अनुतोष मांगा गया था यद्यपि वह अनुकल्पी रूप में[1] था . अतः यह सुप्रतिष्ठित है कि

1. in the alternative.

यदि वादी स्थायी व्यादेश के लिए वाद प्रस्तुत करे और साथ ही कब्जे का भी अनुतोष मांगे (भले ही वह अनुकल्पी रूप में हो) तो वह वाद सिविल न्यायालय द्वारा ग्राह्य न होगा .

बहुत से ऐसे भी मामले सिविल न्यायालय में आते हैं जिनमें वादी कृषिक भूमि पर प्रतिवादी द्वारा बनाए गए निर्माणों को तुड़वाकर अथवा प्रतिवादी द्वारा लगाए गए पेड़ों को उखड़वाकर कब्जे का दावा इस आधार पर करता है कि प्रतिवादी को उस भूमि में कोई अधिकार, हक या हित प्राप्त नहीं है . निर्णयों में इस प्रश्न पर मतभेद प्रकट किया गया . उ.प्र. जमींदारी-विनाश और भूमि-व्यवस्था अधिनियम लागू किए जाने के पहले के कुछ मामलों का यहां उल्लेख किया जा सकता है . **पुत्तू बनाम भान भारत सिंह** – 1949 इला. वी.रि. 52 में वाद खड़े पेड़ों को उखड़ावकर कब्जा दिलाने के लिए था . निर्णय किया गया कि ऐसा वाद सिविल न्यायालय में चल सकता है . **कन्हैया लाल बनाम हुरियन** – इ.ला रि. 23 इला. 486 में वैसे ही तथ्यों के आधार पर पूर्ण न्यायपीठ ने निर्णय किया कि ऐसे वाद का संज्ञान केवल राजस्व न्यायालय कर सकता है . यह मत इस कारण व्यक्त किया गया प्रतीत होता है कि ऐसे वाद 1881 के अधिनियम सं. 12 की धारा 93 के अधीन राजस्व न्यायालयों द्वारा संज्ञेय थे . ये दो निर्णय अलग-अलग अधिनियमों के अधीन होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि वे परस्पर विरोधी दृष्टिकोण अपनाते हैं .

**अंगनू बनाम महावीर** – 1954 इला.ला ज. 669 में एक खण्ड न्यायपीठ ने यह निर्णय किया कि निर्माण गिराने और कब्जे के लिए अतिचारी[1] के विरुद्ध वाद सिविल न्यायालय में चल सकता है . **मेवा तथा अन्य बनाम बलदेव** – 1966 रे.डि. 392 में एक अन्य खण्ड न्यायपीठ ने निर्णय किया कि कृषिक भूमि के कब्जे और उस पर खड़े अनधिकृत निर्माणों को गिराने के लिए अतिचारी

1. trespasser.

के विरुद्ध दाखिल किया गया वाद केवल राजस्व न्यायालय द्वारा ग्राह्य होगा . यह मत 1951 के अधिनियम संख्या 1 में दी गई "भूमि" शब्द की परिभाषा पर विचार करके व्यक्त किया गया . कहा यह गया कि इस अधिनियम में दी गई "भूमि" शब्द की परिभाषा संयुक्त प्रान्त अभिधृति अधिनियम (यू. पी. टेनेंसी ऐक्ट) में दी गई परिभाषा से भिन्न है क्योंकि पूर्ववर्ती अधिनियम के अनुसार जैसे ही भूमि पर निर्माण बन जाए वह "भूमि" नहीं रह जाती थी, किन्तु उ.प्र. जमींदारी-विनाश और भूमि-व्यवस्था अधिनियम के अधीन वह स्थिति नहीं है . अतः खण्ड न्यायपीठ ने कहा कि जिन निर्णयों में इन दो अधिनियमों में दी गई "भूमि" शब्द की परिभाषा पर ध्यान नहीं दिया गया वे सुसंगत नहीं हैं तथा उन्हें 1951 के अधिनियम स. 1 के उपबन्धों के अधीन सही नहीं माना जा सकता . यह भी कहा गया कि अतिचारी के विरुद्ध कब्जे के वाद में मुख्य अनुतोष कब्जे का होगा तथा व्यादेश का अनुतोष आनुषंगिक होगा, और इस प्रकार वाद राजस्व न्यायालय द्वारा ही संज्ञेय होगा . अंत में यह प्रश्न **राम अवलम्ब बनाम जटाशंकर तथा अन्य** – 1968 रे.दि. 470 में एक पूर्ण न्यायपीठ के समक्ष आया . प्रश्न पर सम्यक् विचार के लिए यह अपेक्षित है कि उसमें की गई उक्तियों का व्यापक उद्धरण दिया जाए . निर्णय यह किया गया कि–

> "ऐसे सब मामलों में, जिनमें एक निश्चित वाद-हेतुक के आधार पर दो अनुतोष मांगे जा सकते हैं, विचारणीय मुख्य बात यह होती है कि उन दो अनुतोषों में से कौन सा मुख्य अनुतोष है और कौन सा आनुषंगिक है . जहां मामले के तथ्यों से और परिस्थितियों में निर्माण गिराने और व्यादेश का अनुतोष मुख्य हो वहां कोई कारण नहीं है कि सिविल न्यायालय की अधिकारिता वर्जित मानी जाए . दूसरी ओर, यदि यह कहा जा सके कि उस वाद-हेतुक के आधार पर मुख्य अनुतोष, अर्थात् वास्तविक और सारभूत अनुतोष, कब्जे का ही हो सकता था तो वाद निश्चय ही राजस्व न्यायालय में किया जाएगा "

उक्त निर्णय में पूर्ण न्यायपीठ ने निर्माणों को गिराकर कब्जा दिलाने के लिए बाद में यह निर्णय करने के लिए कोई मार्गदर्शक सिद्धान्त या मानदण्ड नहीं बताए हैं कि कौन-सा अनुतोष वास्तविक और सारभूत अनुतोष माना जाए और कौन-सा अनुतोष आनुषंगिक अनुतोष माना जाए . कहा यह गया :

"हमारी राय में ऐसा निश्चित नियम बताना कठिन है कि अतिचारी के विरुद्ध लाए गए बाद में प्रभावी अनुतोष के तौर पर वादी को एकमात्र अनुतोष कब्जे का मांगना चाहिए और उसे व्यादेश प्राप्त करने तथा अतिचारी द्वारा बनाए गए निर्माणों को गिरवाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए . राजस्व न्यायालयों को व्यादेश और निर्माण गिराने का अनुतोष देने की शक्ति प्रदान नहीं की गई है और अपने विरुद्ध कब्जे की डिक्री हो जाने के बाद यदि प्रतिवादी विवादित भूमि से अपनी सामग्री हटाने से इंकार कर दे तो वादी का मुख्य उद्देश्य विफल हो जाएगा . अतः सिविल न्यायालय को वाद ग्रहण करने की शक्ति वहां प्राप्त होगी जहां कि वादी द्वारा मांगा गया मुख्य अनुतोष व्यादेश और निर्माण गिराने का हो, जो अनुतोष केवल सिविल न्यायालय ही दे सकता है . कब्जे का अनुतोष केवल आनुषंगिक अनुतोष होगा और व्यादेश तथा निर्माण गिराने के हेतु वाद का संज्ञान करने के बाद सिविल न्यायालय वह अनुतोष भी दे सकता है."

खण्ड न्यायपीठ के **मेवा** वाले उपर्युक्त निर्णय को अंशतः अनुमोदित करते हुए और उससे आंशिक विसम्मति व्यक्त करते हुए कहा गया :

"**मेवा बनाम बलदेव** के मामले में न्यायमूर्तिगण श्री दयाल और श्री सेठ द्वारा व्यक्त किए गए इस विचार से हम सादर सहमत हैं कि जब वाद मुख्य अनुतोष के विषय में सिविल न्यायालय द्वारा ग्राह्य हो तो यह आवश्यक नहीं है कि सिविल न्यायालय ही उस वाद-हेतुक से उत्पन्न होने वाले सभी संभव अनुतोष दे सके . किन्तु हम **मुक्तेश्वरी प्रसाद तिवारी बनाम रामबली** – 1965 इला.ला ज. 1137 में खण्ड न्यायपीठ द्वारा अपनाए गए इस दृष्टिकोण से सादर

असहमत हैं कि जब कभी अतिचारी के विरुद्ध बाद में निर्माण गिराने और कब्जे की मांग की गई हो तो सदैव यह विनिश्चित किया जाना चाहिए कि मुख्य अनुतोष कब्जे का है. हमारी दृष्टि में एक ही वाद-हेतुक से उत्पन्न होने वाले विभिन्न अनुतोषों में से कौन-सा मुख्य अनुतोष है यह प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करेगा."

**राम अवलम्ब** के उपर्युक्त निर्णय में पूर्ण न्यायपीठ द्वारा व्यक्त किया गया मत अब भी मान्य है और उसके सही होने को किसी भी मामले में प्रश्नगत नहीं किया गया है. इस प्रकार यह सुप्रतिष्ठित प्रतीत होता है कि अतिचारी के विरुद्ध निर्माण गिराने तथा कब्जे के वाद में सदैव यह निणय किया जाना चाहिए कि कौन-सा अनुतोष मुख्य और तात्त्विक अनुतोष है. यदि यह पाया जाए कि कब्जे का अनुतोष ही मुख्य अनुतोष है और निर्माण गिराने का अनुतोष उसका आनुषंगिक है तो राजस्व न्यायालय को ही वह वाद ग्रहण करने और उसका निर्णय करने की अधिकारिता होगी. इसके विपरीत, यदि मामले के तथ्यों और परिस्थितियों से यह प्रकट हो कि निर्माण गिराने और व्यादेश का अनुतोष ही मुख्य अनुतोष है तथा कब्जे का अनुतोष आनुषंगिक अनुतोष है तो उस वाद का संज्ञान सिविल न्यायालय द्वारा किया जा सकेगा.

आगे चलकर **रामशंकर प्रसाद बनाम सर्वजीत** – 1975 रे.डि. 38 में न्याय. श्री ओ.पी. त्रिवेदी के समक्ष प्रश्न उठा कि कृषिक भूमि के एक भाग पर किए गए निर्माणों को गिराकर कब्जे के लिए वाद सिविल न्यायालय द्वारा संज्ञेय है या नहीं. उस मामले में प्रतिवादी ने वादी के भूखण्ड के एक भाग पर बांसों की बाड़ लगा कर और फिर पक्की दीवार और गारे तथा छप्पर बनाकर अतिचार कर लिया था. वादी ने अपने दावे में निर्माणों को गिराकर कब्जे की तथा संपूर्ण भूखण्ड के कब्जे की मांग की. विचारण न्यायालय ने प्रतिवादी का यह तर्क माना कि वाद राजस्व न्यायालय में चलेगा. सिविल न्यायाधीश ने अपील में उस आदेश की पुष्टि कर दी. **राम अवलम्ब** वाले उपर्युक्त निर्णय का आश्रय लेते हुए वादी अर्जीदार ने

यह तर्क किया कि वाद सिविल न्यायालय में चल सकता है क्योंकि मुख्य अनुतोष निर्माणों को गिराने के आज्ञापक व्यादेश[1] का है और कब्जे का अनुतोष केवल आनुषंगिक है; अतः वह अनुतोष **राम अवलम्ब** वाले निर्णय में बताए गए सिद्धांत के आधार पर सिविल न्यायालय द्वारा दिया जा सकता है . यह तर्क माना नहीं गया और निर्णय यह किया गया कि उक्त मामले में पूर्ण न्यायपीठ द्वारा बताए गए मानदण्ड को लागू करने पर तथा वादपत्र में कही गई बातों को ध्यान में रखते हुए निर्णय यही होगा कि कब्जे का अनुतोष ही मुख्य अनुतोष है क्योंकि वादपत्र के पैरा 2 में स्पष्ट कहा गया था कि अर्जीदार वादी को बेदखल बांसों की बाड़ लगाकर तथा दीवार, नींवें और छप्पर बनाकर प्लाट घेर कर किया गया था . वादी ने जितनी भूमि पर कब्जा चाहा था उसका क्षेत्रफल भी वादपत्र के पैरा 2 में दिया हुआ था . उसके अनुसार वादी को भूखण्ड के उस भाग से बेदखल किया गया था जो कि बांसों की बाड़ से घिरा हुआ था और जिस पर दीवार, नींव और विवादित छप्पर गलत तौर पर बनाए गए थे . अतः निर्णय यह किया गया कि यह ऐसा मामला नहीं है जिसमें बेदखली केवल उन गलत निर्माणों को बनाकर की गई हो जिनको गिरवाना चाहा गया हो . जिन मामलों में केवल सदोष निर्माण बनाकर बेदखल करने की बात की गई हो और कब्जे की डिक्री केवल उस क्षेत्र की बाबत मांगी गई हो जिस पर वह सदोष निर्माण करके अतिचार किया गया जिसका गिराया जाना चाहा गया, वहां हमारी राय में निर्माण गिराने का अनुतोष मुख्य अनुतोष माना जाना चाहिए और कब्जे का अनुतोष आनुषंगिक अनुतोष, क्योंकि **बेदखली निर्माण द्वारा ही की गई और केवल उसी क्षेत्र तक सीमित है जिस पर सदोष निर्माण किया गया** . किन्तु प्रस्तुत जैसे मामले में, जिसमें कि बेदखली सदोष निर्माणों वाली भूमि तक सीमित न हो बल्कि उसके अतिरिक्त भूमि से भी हो, यह नहीं कहा जा सकता कि बेदखली केवल सदोष निर्माणों से हुई . प्रस्तुत वाद

1. mandatory injunction.

जैसी कोटि के मामलों में मुख्य अनुतोष कब्जे का अनुतोष है और निर्माण गिराने का अनुतोष आनुषंगिक अनुतोष माना जाना चाहिए. विद्वान् न्यायाधीश ने आगे कहा कि **यह सुप्रतिष्ठित है कि कृषिक भूमि से बेदखली के इन वादों में निर्माण गिराने का आनुषंगिक अनुतोष राजस्व न्यायालय दे सकता है.**

**रामशंकर** के मामले में निर्णय यह किया गया कि यदि वादी ने कब्जे का अनुतोष वृहत्तर क्षेत्र पर मांगा है और भूखण्ड के उस क्षेत्र तक सीमित नहीं रखा है जिस पर प्रतिवादी ने निर्माण किया तो ऐसे वाद में मुख्य अनुतोष कब्जे का माना जाएगा और वह वाद राजस्व न्यायालय द्वारा संज्ञेय होगा.

निस्सन्देह यह कहना सही है कि आज्ञापक या स्थायी व्यादेश का अनुतोष राजस्व न्यायालय द्वारा नहीं दिया जा सकता. किन्तु, जैसा कि पहले बताया गया, यदि मामले में हक[1] के प्रश्न का भी अवधारण करना हो तो वह सिविल न्यायालय द्वारा संज्ञेय नहीं होगा, भले ही राजस्व न्यायालय द्वारा वह अनुतोष न दिया जा सके जो सिविल न्यायालय देगा. राजस्व न्यायालय भी धारा 229-ख के अधीन अस्थायी व्यादेश दे सकता है. अतः प्रकट यह होगा कि यदि मामले के तथ्यों और परिस्थितियों से लगे कि मुख्य अनुतोष राजस्व न्यायालय द्वारा संज्ञेय है तो सिविल न्यायालय को वह वाद ग्रहण करने की अधिकारिता नहीं होगी.

"वाद-हेतुक" पद की परिभाषा किसी अधिनियम में तो नहीं दी गई है. किन्तु यह सुप्रतिष्ठित है कि उसमें ऐसा प्रत्येक तथ्य शामिल होता है जिसका साबित किया जाना वादी के पक्ष में निर्णय के लिए आवश्यक होगा, देखिए – **मोहम्मद खलील खां बनाम महबूब अली** - आ. इं.रि. 1949 प्रि.का. 78. जब एक ही वाद-हेतुक पर दो अनुतोष चाहे गए हों तो विचारार्थ प्रश्न यह होगा कि कौन सा आनुषंगिक है, देखिए – **लक्ष्मी शंकर बनाम सुन्दर** – 1971 रे.डि. 271. यदि मुख्य

---

1. title.

अनुतोष सिविल न्यायालय द्वारा संज्ञेय हो तो आनुषंगिक अनुतोष भी उसी न्यायालय द्वारा दिया जा सकेगा, देखिए – **राम अवलम्ब बनाम जटा शंकर** – 1968 इला.ला ज. 1108 ·

संविदा के विनिर्दिष्ट पालन[1] तथा कब्जे के लिए वाद में मुख्य अनुतोष संविदा के विनिर्दिष्ट पालन का होता है, देखिए – **लाला दीप चन्द्र बनाम लाला दुर्गा प्रसाद** – 1956 इला.ला ज. 955 ·

इस घोषणा के लिए वाद कि कोई विलेख बेनामी है और उसके आधार पर प्रतिवादी को खातेदार का कोई हक प्राप्त नहीं होता, सिविल न्यायालय द्वारा संज्ञेय होगा क्योंकि दस्तावेज की बेनामी प्रकृति के बारे में घोषणा राजस्व न्यायालय द्वारा नहीं दी जा सकती . ऐसे वाद में मांगे गए कब्जे का आनुषंगिक अनुतोष भी सिविल न्यायालय द्वारा दिया जा सकता है, देखिए - सिविल पुनरीक्षण सं. 126 सन् 1986 **साजिद अली बनाम श्रीमती जेबुन्निसा** – निर्णीत : 14-10-1986 ·

यह भी सुप्रतिष्ठित है कि शून्यकरणीय[2] विक्रय-पत्र (बेनामा) या अन्य हस्तान्तरण-पत्र (दस्तावेज) जब तक वह शून्य न किया जाए, निष्पादक[3] के विरुद्ध या उसके अधीन दावा करने वाले किसी अन्य व्यक्ति के विरुद्ध प्रवर्तनीय[4] होगा, जैसा कि **निंगवा बनाम बिजनप्पा** – आ.इ.रि. 1968 मु.को. 550 में निर्णय किया गया . कृषिक भूमि सम्बन्धी शून्यकरणीय विक्रय-पत्र को रद्द कराने के लिए वाद राजस्व न्यायालय द्वारा संज्ञेय नहीं होगा, जैसा कि उच्च न्यायालय के पूर्ण न्यायपीठ ने **राम नाथ बनाम श्रीमती मुन्ना** – 1976 इला.बी.के. 412 में निर्णय किया . किन्तु कृषिक भूमि से संबंधित शून्य[5] विक्रयपत्र या अन्य शून्य हस्तान्तरण-पत्र को रद्द करने के लिए और साथ ही आक्षिप्त[6] दस्तावेज में दी गई भूमि के खातेदार के रूप में अधिकारों की घोषणा के लिए वाद ग्रहण करने की अधिकारिता

---

1. specific performance of contract
2. voidable.
3. executant.
4. enforceable.
5. void.
6. impugned.

सिविल न्यायालय को नहीं होगी . वह उक्त अधिनियम की धारा 331(1) के अधीन उसमें लिखे स्पष्टीकरण को देखते हुए वर्जित होगी क्योंकि उस वाद में मुख्य अनुतोष दस्तावेज वाली भूमि के खातेदार के अधिकारों की घोषणा का होगा जो राजस्व न्यायालय जमींदारी-विनाश और भूमि-व्यवस्था अधिनियम की धारा 229-ख के अधीन दे सकता है, क्योंकि शून्य विक्रय-पत्र को शून्य मानकर उसकी उपेक्षा की जा सकती है और उसे निष्प्रभाव करने के लिए उसे रद्द करना आवश्यक नहीं होता . राजस्व न्यायालयों को भूमि में अधिकारों और हितों के संबंध में जो कानूनी शक्तियाँ प्रदान की गई हैं उनकी अनिवार्य विवक्षा से[1] उन्हें यह अधिकारिता प्राप्त है कि ऐसे दस्तावेजों के शून्य होने के कारण उन्हें निष्प्रभाव घोषित करें, जिन्हें रद्द करने की आवश्यकता विधि में नहीं होगी, और ऐसी दशा में यह महत्त्वहीन होगा कि राजस्व न्यायालय सिविल न्यायालय द्वारा दिए जाने वाले रद्द करने का अनुतोष देने को सक्षम नहीं होगा, देखिए – **गोरख नाथ बनाम एच. एन. सिंह** – आ.इ.रि. 1973 सु.को. 245 [(1973) 3 उम.नि.प. 832] .

**विजय सिंह बनाम द्वितीय अपर जिला एवं सेशन न्यायाधीश** – 1982 रे.डि. 207 में वादपत्र में यह कहा गया था कि प्रश्नगत विक्रय-पत्र वस्तुतः वादी ने निष्पादित नहीं किया था बल्कि किसी अन्य व्यक्ति ने उस प्रयोजनार्थ प्रतिरूपण[2] किया था और उसके लिए कोई प्रतिफल[3] भी नहीं दिया गया था . कहा यह गया कि उस जाली और फर्जी विक्रय-पत्र के आधार पर प्रतिवादी ने वादी के विवादित भूखण्ड पर कब्जे में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया और वादी के उसे मना करने पर भी वह नहीं माना; अतः यह वाद कि प्रतिवादी को विवादित भूखण्ड पर वादी के कब्जे में हस्तक्षेप करने से रोकने के लिए स्थायी व्यादेश के लिए सिविल न्यायालय में दाखिल किया

---

1. by necessary implication.
2. personation.
3. consideration.

गया . न्याय. श्री राजाराम रस्तोगी ने इस विषय में निर्णयज विधि[1] पर विचार करके यह निष्कर्ष निकाला कि वादपत्र में किए गए कथनों के आधार पर प्रश्नगत विक्रय-पत्र शून्य है और ऐसी स्थिति में वांछित अनुतोष व्यादेश का होने पर भी वादपत्र में कहे गए वाद-हेतुक के आधार पर प्रभावी अनुतोष घोषणा का है जो केवल राजस्व न्यायालय दे सकता है; ऐसा वाद सिविल न्यायालय द्वारा संज्ञेय नहीं है . तदनुसार वादपत्र समुचित न्यायालय में पेश किए जाने के लिए वापस कर दिया गया . यह निर्णय करने में न्यायमूर्ति जी ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि शून्यकरणीय दस्तावेज को रद्द कराने के लिए वाद सिविल न्यायालय में दाखिल किया जाना है और उसी के द्वारा संज्ञेय है, जैसा कि **गोरखनाथ के मामले** में निर्णय किया गया . राजस्व न्यायालयों में शून्य दस्तावेज को निष्प्रभाव ठहराने और घोषित करने की अधिकारिता निहित है . इस प्रकार वादपत्र में किए गए कथनों के अनुसार अधिक्षिप्त संव्यवहार[2] एक शून्य संव्यवहार था और ऐसी स्थिति में वाद सिविल न्यायालय द्वारा संज्ञेय नहीं था, यद्यपि मांगा गया अनुतोष व्यादेश का था . इसमें इन निर्णयों का आश्रय लिया गया : **बैजनाथ बनाम बिन्दा** – 1970 रे.डि. 77; **अमानतुल्ला बनाम मोहम्मद फरियाद** – 1978 रे.डि. 262; **सुन्दर चमार बनाम सोहन चमार** – 1979 रे.डि. 91; **रामरूप बनाम श्रीमती बुधिया** – 1979 रे.डि. 212; तथा **राम अवलम्ब बनाम जटाशंकर** – 1968 इ.ला ज. 1108 .

**जगदम्बा प्रसाद बनाम प्रह्लाद सिंह** – 1981 इला.बी.के. 328 में सीरदारी भूमि की बाबत एक विक्रय-पत्र को रद्द कराने तथा उसका कब्जा दिलाने के लिए वाद सिविल न्यायालय में लाया गया . पाया यह गया कि प्रत्यर्थी की माता एवं नैसर्गिक संरक्षक[3] द्वारा अपीलार्थियों के पक्ष में निष्पादित विक्रय-पत्र शून्य और निष्प्रभाव है क्योंकि

---

1. case law.
2. impeached transaction.
3. natural guardian.

प्रत्यर्थी के पागल होने के कारण उसकी ओर से कोई विक्रय-पत्र जिला न्यायाधीश की अनुज्ञा के बिना नैसर्गिक संरक्षक द्वारा भी नहीं लिखा जा सकता था . इस बात पर जोर दिया गया कि वाद सिविल न्यायालय में नहीं चल सकता और गोरखनाथ वाले उपर्युक्त निर्णय का हवाला दिया गया . "कोई अनुतोष" शब्दों का अर्थ उच्च न्यायालय द्वारा यह निकाला गया कि उससे मुख्य अनुतोष अभिप्रेत है, अतः प्रश्न यह है कि मुख्य अनुतोष क्या था . दूसरे शब्दों में, क्या कब्जे का अनुतोष केवल आनुषंगिक था . यदि विक्रय-पत्र शून्य था, जैसा कि पाया गया है, तो प्रत्यर्थी उसे शून्य मानकर केवल कब्जे के ही अनुतोष का दावा कर सकता था . यह घोषणा मांग कर कि विक्रय-पत्र शून्य है वादी ने वाद को केवल भिन्न रंग देना चाहा जिससे कि वह सिविल न्यायालय द्वारा सज्ञेय हो जाए; उसे ऐसा नहीं करने दिया जा सकता . परिणामतः अपील मंजूर की गई और वाद खारिज कर दिया गया . वादियों को निदेश दिया गया कि वे उपचार के लिए राजस्व न्यायालय का आश्रय लें .

इस प्रकार यह सुप्रतिष्ठित है कि शून्य दस्तावेज को रद्द कराने के लिए वाद की आवश्यकता नहीं होती . अतः वादी राजस्व न्यायालय में यह घोषणा मांग सकता है कि वह भूमि का खातेदार है तथा यह स्थिति अंतरण-विलेख के बावजूद है क्योंकि वह शून्य और निष्प्रभाव है . अतः सिविल न्यायालय की अधिकारिता उ.प्र. जमींदारी-विनाश और भूमि-व्यवस्था अधिनियम की धारा 331(1) के अधीन ऐसे वादों के संबंध में वर्जित होगी जो शून्य दस्तावेजों को रद्द कराने के लिए हों .

एक प्रकार के और मामले होते हैं जो प्रायः सिविल न्यायालय में दाखिल किए जाते हैं . इनमें कृषिक भूमि की बाबत अंतःकालीन लाभों[1] की डिक्री मांगी जाती है . विचारणीय यह है कि ये वाद सिविल न्यायालय में चल सकते हैं या नहीं . जमींदारी उन्मूलन के

1. mesne profits.

पूर्व यह प्रश्न इन मामलों में उठा : **जमुना दास बनाम मिथो लाल** – 1935 इला ला ज.(राजस्व) 112, तथा **कुदेशिया लाल बनाम जाहिद हुसैन** – 1935 इला.ला ज. (राजस्व) 482. यह निर्णय किया गया कि अंत:कालीन लाभों के लिए वाद राजस्व न्यायालय द्वारा संज्ञेय नहीं है. उ.प्र. जमींदारी-विनाश और भूमि-व्यवस्था अधिनियम लागू होने पर **दुग्गल सिंह बनाम प्रताप सिंह** – 1982 रे.डि. 269 में अंत:कालीन लाभों को वसूली के लिए वाद सिविल न्यायालय में दाखिल किया गया था. उस न्यायालय की अधिकारिता को प्रश्नगत किया गया; किन्तु विचारण न्यायालय ने निर्णय वादी के पक्ष में दिया कि उसे वाद का विचारण करने की अधिकारिता है. उस आदेश को चुनौती देने के लिए प्रतिवादियों द्वारा दाखिल किए गए पुनरीक्षण में कहा गया कि वाद अमरूदों की विक्रय राशि वाले अंत:कालीन लाभों में वादी के कथित हिस्से की बाबत तथा विवादित भूमि से होने वाले लाभों की बाबत होने के कारण राजस्व न्यायालय में नहीं चल सकता. दूसरी ओर, विरोधी पक्षकारों के विद्वान् अधिवक्ता ने बहस की कि वाद केवल धन की वसूली के लिए होने के कारण वह राजस्व न्यायालय द्वारा संज्ञेय है. इसमें **मोहम्मद अब्दुल जलील खां बनाम मोहम्मद अब्दुल सलाम खां** – आ.इ.रि. 1933 इला. 519 का आश्रय लिया गया. न्याय. श्री गोपीनाथ ने सुसंगत निर्णयज विधि पर सावधानी से विचार करके कहा कि उ.प्र. जमींदारी-विनाश और भूमि-व्यवस्था अधिनियम में अंत:कालीन लाभों के लिए वाद करने का उपबन्ध शामिल नहीं है. क्योंकि अधिकारिता केवल उन वादों के संबंध में वर्जित है जो अनुसूची 2 के स्तम्भ 3 में गिनाए गए हैं, अत: सिविल न्यायालय की प्रस्तुत वाद के विषय में अधिकारिता वर्जित नहीं है और वह वाद को ग्रहण करके उसका निर्णय कर सकता है. इस प्रकार इस निर्णय में बताया गया कि सिविल न्यायालय की अधिकारिता का वर्जन करने के लिए वाद उ. प्र. जमींदारी-विनाश और भूमि-व्यवस्था अधिनियम की अनुसूची 2 के स्तम्भ 3 में वर्णित किसी प्रकार का होना चाहिए.

संक्षेप में इस प्रश्न की निर्णयज विधि के अनुसार निम्नलिखित बातें ऐसी हैं जिनके बाद राजस्व न्यायालय में होंगे क्योंकि सिविल न्यायालय की अधिकारिता उ.प्र. जमींदारी-विनाश और भूमि-व्यवस्था अधिनियम की धारा 331(1) के अधीन वर्जित है :-

1. कृषिक भूमि में उसके खातेदार के रूप में हक की घोषणा के लिए वाद;
2. खातेदार द्वारा अतिचारी की बेदखली का वाद;
3. गांव सभा में निहित भूमि की बाबत बेदखली और नुकसानी की कार्यवाही;
4. कृषिक भूमि के बंटवारे के लिए खातेदार द्वारा वाद, चाहे वादी का नाम अभिलेखों में दर्ज हो या न हो;
5. उ. प्र. जमींदारी-विनाश और भूमि-व्यवस्था अधिनियम की अनुसूची में वर्णित अन्य सभी वाद तथा कार्यवाहियां;
6. उपर्युक्त इस शर्त के अधीन रहते हुए हैं कि राजस्व न्यायालय की कृषिक भूमि में खातेदार के अधिकार, हक और हित के अवधारण की अधिकारिता चकबन्दी क्षेत्र के संबंध में उत्तर प्रदेश जोत चकबन्दी अधिनियम की धारा 49 के अधीन वर्जित न हो.

अब हम उत्तर प्रदेश जोत चकबन्दी अधिनियम (उ.प्र. अधिनियम सं. 5 सन् 1954) के प्रभाव पर आते हैं. यह अधिनियम इस दृष्टि से पारित किया गया था कि खातेदारों के कृषिक भूमि में हक संबंधी मामलों का अंतिम रूप से अवधारण किया जाए तथा खातेदारों के बिखरे हुए भूखण्डों को एकत्र किया जाए. मूल अधिनियम में राजस्व अभिलेखों की प्रविष्टियों में सुधार का प्रश्न धारा 8 के अधीन कार्यवाही के प्रक्रम[1] पर लिया जाता था. अधिनियम की धारा 8 के अधीन पारित ऐसे आदेश के विरुद्ध अपील और पुनरीक्षण की भी व्य-

1. stage.

वस्था थी . हक का प्रश्न तत्पश्चात् अधिनियम की धारा 12 के अधीन कार्यवाही के प्रक्रम पर लिया जाता था . इस अवसर पर भी चकबन्दी अधिकारी के निर्णय के विरुद्ध अपील और पुनरीक्षण की व्यवस्था थी . इस प्रकार कार्यवाही में दोहरकम[1] होती थी, जिसमें समय भी बहुत अधिक लगता था . अतः इस अधिनियम में समय-समय पर बड़े-बड़े संशोधन किए गए . अभिलेखों को सही करना, हक का अवधारण तथा विवादित भूमि की बाबत खातेदारों के दावों का निस्तारण अधिनियम की धारा 12 के अधीन आ गया . चकबन्दी अधिकारी को धारा 12 में यह शक्ति प्रदान की गई कि विवादित भूमि में सीरदार, अधिवासी या असामी के रूप में हक के दावों का निर्णय करे . जहां तक भूमिधरी अधिकारों का प्रश्न था, अधिनियम की धारा 12(7) में यह व्यवस्था थी कि चकबन्दी अधिकारी दावेदार द्वारा विवादित भूमि में भूमिधरी अधिकारों की बाबत प्रश्न उठाए जाने पर वह प्रश्न सिविल न्यायालय को भेज दे कि वह मध्यस्थ को निर्देशित कर दे . अपेक्षा यह थी कि सिविल न्यायालय मध्यस्थ के अधिनिर्णय पर विचार करे और अधिनिर्णय के विरुद्ध आपत्तियों को निपटाने के बाद अधिनिर्णय को न्यायालय की डिक्री का अंग बनाने के लिए डिक्री पारित कर दे, जिसमें विवादित भूमि में खातेदार के हक का अवधारण हो . राजस्व न्यायालय से यह अपेक्षा थी कि सिविल न्यायालय द्वारा अभिलिखित निष्कर्षों की प्राप्ति पर मामले का निर्णय सिविल न्यायालय की डिक्री का अंग बनाए गए अधिनिर्णय के अनुसार करे .

इस प्रकार यह दर्शनीय है कि उपर्युक्त भूमि सम्बन्धी विधि, अर्थात् उत्तर प्रदेश जोत चकबन्दी अधिनियम, के अधीन भी सिविल न्यायालय को अधिकारिता प्रदान की गई थी कि हक विषयक प्रश्न का, अर्थात् विवादित भूमि में भूमिधरी अधिकारों के दावे का, विनिश्चय करे . किन्तु अनुभव यह हुआ कि भूमिधरी अधिकारों के अवधारण की प्रक्रिया में बहुत समय लगता था तथा जोतों की पुनः

---

1. duplication; multiplicity.

व्यवस्था तब तक शीघ्रता से सम्भव नहीं हो पाती थी जब तक कि हक के प्रश्न का विनिश्चय सिविल न्यायालय द्वारा न कर दिया जाता. अतः वर्ष 1963 में अधिनियम का पुनः बड़ा संशोधन किया गया तथा मध्यस्थ को निर्देश के आधार पर सिविल न्यायालय की भूमिधरी हक के अवधारण की अधिकारिता समाप्त कर दी गई तथा चकबन्दी अधिकारी को ही अधिकारिता प्रदान कर दी गई कि विवादित भूमि में भूमिधरी अधिकारों का भी निर्णय करे. चकबन्दी अधिकारी को यह शक्ति प्रदान की गई कि उस प्रश्न का विनिश्चय करे और ऐसा करने के लिए उसे सक्षम अधिकारिता रखने वाला न्यायालय माना जाता था. अधिनियम की धारा 9 के अधीन सहायक चकबन्दी अधिकारी को भी यह शक्ति प्रदान की गई कि पक्षकारों के विवादों का विनिश्चय सुलह द्वारा भी करा सके, जो चकबन्दी समिति के दो सदस्यों के सामने होती थी. इस प्रकार सुलह कार्यवाही में पारित आदेश, अपील और पुनरीक्षण में होने वाले निर्णयों के अधीन रहते हुए, अन्तिम होते हैं. उ. प्र. जमींदारी-विनाश और भूमि-व्यवस्था अधिनियम में किसी बात के होते हुए भी, सहायक चकबन्दी अधिकारी को यह शक्ति भी प्रदान की गई कि सुलह के आधार पर मामले का विनिश्चय करे और उसके लिए वह अधिकारिता-सम्पन्न न्यायालय समझा जाएगा. चकबन्दी अधिकारी द्वारा अधिनियम की धारा 10 के अधीन कार्यवाही में पारित आदेश के विरुद्ध धारा 11 और 48 के अधीन क्रमशः अपील तथा पुनरीक्षण दाखिल किया जा सकता है. इस प्रकार प्रक्रिया के सरलीकरण से हक के विवादित प्रश्नों के विनिश्चय के बाद चकबन्दी तथा भू-धृतियों के पुनः व्यवधापन का कार्य शीघ्रतर किया जाता है.

एक महत्त्वपूर्ण उपबन्ध धारा 5(ग)(1) का है. उसके अनुसार धारा 4(2) के अधीन अधिसूचना निकलने पर सभी वाद और कार्यवाहियां, अपील और पुनरीक्षण, जो अन्य (सिविल या राजस्व) न्यायालयों में विचाराधीन हों, उपशमित[1] हो जाएंगे तथा

1. abate.

वाद के पक्षकार इस बात के हकदार होंगे कि उन प्रश्नों को अधिनियम की धारा 9 और 10 के अधीन चकबन्दी प्राधिकारियों के समक्ष कार्यवाही में उठाएं . इस प्रकार अधिनियम की धारा 4(2) के अनुसार किसी क्षेत्र में चकबन्दी प्रारम्भ होने की अधिसूचना निकलने के पहले वाद में उठाया गया हक का प्रश्न चकबन्दी प्राधिकारियों के समक्ष कार्यवाही में पुनः उठाया जाना होता है .

अतः इस उपबन्ध से अधिनियम की धारा 4(2) के अधीन अधिसूचना निकलने की तारीख को उनके समक्ष विचाराधीन हक विषयक नियमित वादों के विनिश्चय की सिविल व राजस्व न्यायालय की अधिकारिता पूर्णतः बहिष्कृत हो गई है . शर्त यही है कि वाद में विचारणीय हक विषयक प्रश्न कृषिक भूमि के संबंध में हो . इस उपबन्ध के कारण ऐसा वाद जिसमें हक विषयक विवाद हो उपशमित हो जाएगा . किन्तु यदि वाद में कृषिक भूमि से असम्बद्ध अन्य प्रश्न हों तो उनका अवधारण उस वाद में सक्षम न्यायालय द्वारा किया जाएगा .

बहुत से ऐसे मामले भी थे जिनमें कि शून्य विक्रय विलेख के रद्द किए जाने की मांग ऐसे वादों में की गई थी जो उत्तर प्रदेश जोत चकबन्दी अधिनियम की धारा 4(2) के अधीन अधिसूचना निकलने की तारीख को विचाराधीन थे . इस प्रश्न पर माननीय उच्चतम न्यायालय ने **गोरख नाथ बनाम एच. एन. सिंह** – 1973 सु.को. 2451 [(1973) 3 उम.नि.प. 832] में विचार किया . निर्णय यह किया गया कि शून्य विक्रय-पत्र को रद्द कराने के लिए वाद भी उपशमित हो जाएगा क्योंकि राजस्व न्यायालयों में उनकी कानूनी शक्ति की अनिवार्य विवक्षा द्वारा[1] यह शक्ति निहित है कि भूमि में ऐसे हक या हित के विषय में निर्णय करके ऐसे दस्तावेजों को शून्य होने के कारण निष्प्रभाव घोषित करें . इनको रद्द करने की कोई आवश्यकता नहीं होगी . अतः यह महत्वहीन होगा कि राजस्व न्यायालय

1. by necessary implication.

विलेख को रद्द करने का वह अनुतोष नहीं दे सकता जो कि सिविल न्यायालय द्वारा दिया जा सकता है . गोरख नाथ वाले उपर्युक्त मामले में इलाहाबाद उच्च न्यायालय के **जागर नाथ शुक्ल बनाम सीता राम पाण्डेय** – 1969 रे.डि. 529 : 1969 इ.ला ज. 768 वाले मामले में खंड न्यायपीठ के निर्णय पर विचार करते हुए उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों ने कहा : "हमारी राय में ऐसी दस्तावेज का, जिसके संपूर्णतः या अंशतः अविधिमान्य होने के कारण कोई न्यायालय या प्राधिकारी उसकी उपेक्षा कर सकता है, उस दस्तावेज से अन्तर किया जा सकता है जिसे विधितः निष्प्रभाव करने के लिए उसे वस्तुतः रद्द करना पड़े . अन्तरण[1] करने की शक्ति के आगे बढ़कर किया गया कोई भी अन्तरण शक्ति के बाहर होने की सीमा तक अविधिमान्य होगा . ऐसे तात्पर्यित[2] अन्यक्रामण[3] के प्रभाव का निर्णय उस विवाद के विनिश्चय में अनिवार्यतः विवक्षित होगा जिसमें कि चकबन्दी की कार्यवाही की विषयभूत भूमि में अधिकार या हितों के विषय में परस्पर विरोधी दावे हों . दावा या इंकार किए गए अधिकारों या हकों के अस्तित्व और मात्रा की घोषणा चकबन्दी प्राधिकारियों द्वारा की जाएगी, जिन्हें अपने कानूनी अधिकारों की अनिवार्य विवक्षा द्वारा अधिकारिता प्रदत्त समझी जाएगी कि उस भूमि में ऐसे अधिकारों और हितों के विषय में निर्णय करें तथा यह भी घोषित करें कि दस्तावेज प्रभावी है या निष्प्रभाव है . किन्तु जहां कोई दस्तावेज ऐसी हो जिसका विधिक प्रभाव उसको अपास्त या रद्द करके ही समाप्त किया जा सके वहां यह बहस की जा सकती है कि चकबन्दी प्राधिकारियों को दस्तावेज रद्द करने की शक्ति प्राप्त नहीं है; अतः यह ठहराया जाना चाहिए कि वह उन पर तब तक आबद्धकर[4] है जब तक कि उसे रद्द करने की शक्ति रखने वाला न्यायालय उसे रद्द न कर दे ."

माननीय उच्चतम न्यायालय ने **जागर नाथ शुक्ल** वाले मामले

---

1. transfer.
2. purported
3. alienation.
4. binding.

में खण्ड न्यायपीठ द्वारा अपनाए गए इस मत का समर्थन किया कि दावे का सार निर्णायक होगा, न कि उसका स्वरूप . माननीय उच्चतम न्यायालय ने निचले न्यायालयों की डिक्रियों को रद्द करके आदेश दिया कि अब पक्षकारों के दावों का विनिश्चय चकबन्दी न्यायालयों द्वारा किया जाएगा . वादी का शून्य विक्रय-पत्र को रद्द करने का वाद उपशमित ठहराया गया .

इस प्रकार चकबन्दी अधिकारियों को इस बात की अधिकारिता होगी कि निर्णय करें कि विक्रय, दान या विनिमय का विलेख बिल्कुल शून्य है या केवल शून्यकरणीय . यदि यह माना जाए कि अन्तरण विलेख शून्य है तो चकबन्दी अधिकारी अन्तरण विलेख की उपेक्षा करके तथा उस शून्य अन्तरण विलेख के बावजूद खातेदार के दावे का निर्णय करने के लिए अग्रसर होगा . किन्तु यदि यह पाया जाए कि विक्रय विलेख शून्यकरणीय है तथा वह रद्द न किए जाने पर प्रवर्तनशील रहेगा तो चकबन्दी प्राधिकारियों को ऐसा विलेख रद्द करने की अधिकारिता नहीं होगी तथा उन्हें वह विलेख तब तक मानना होगा जब तक कि वह सक्षम सिविल न्यायालय द्वारा रद्द न कर दिया जाए . इस प्रकार यह प्रत्यक्ष है कि अधिनियम की धारा 4(2) के अधीन अधिसूचना निकलने पर शून्य विक्रय विलेखों की बाबत वाद उपशमित हो जाएंगे और ऐसे विचाराधीन वादों का निर्णय करने की सिविल न्यायालय की अधिकारिता भी बहिष्कृत हो जाएगी .

अन्तरण विलेख शून्य है या शून्यकरणीय, इसका अवधारण वादपत्र में किए गए अभिवचनों[1] के आधार पर होगा : यदि यह कहा गया हो कि प्रश्नगत विक्रय विलेख अवयस्क निष्पादक[2] द्वारा लिखा गया है या किसी अन्य व्यक्ति ने प्रतिरूपण[3] करके उसका निष्पादन किया है, न कि वादी ने, तो अन्तरण विलेख शून्य दस्तावेज माना जाएगा . यह उदाहरण संपूर्ण[4] नहीं है . अन्य तथ्य तथा परिस्थितियां

1. pleadngis.
2. executant.
3. personation.
4. exhaustive.

भी हो सकती हैं जिनमें जिस अंतरण विलेख को रद्द करने की मांग की गई हो वह शून्य दस्तावेज हो. अतः विक्रय विलेख शून्य है या शून्यकरणीय, इस प्रश्न का अवधारण करने के लिए न्यायालय को सभी तथ्यों और परिस्थितियों की सूक्ष्म परीक्षा करनी होगी · यदि वादपत्र में किए गए कथनों के आधार पर ही विलेख प्रथमदृष्ट्या शून्य लगे तो विचाराधीन वाद उपशमित हो जाएगा. चकबन्दी प्राधिकारियों को अधिकारिता प्राप्त होगी कि विवादित भूमि की बाबत दावा संबंधी आपत्ति ग्रहण करें और इस प्रश्न का विनिश्चय करें कि विलेख शून्य है या शून्यकरणीय[1]. यदि उसके समक्ष दिए गए साक्ष्य के आधार पर प्रश्नगत विलेख शून्य पाया जाए तो उसकी उपेक्षा की जाएगी. उससे पक्षकारों का हक प्रभावित नहीं होगा तथा उस हक का विनिश्चय गुणागुण के आधार पर किया जाएगा. किन्तु यदि यह पाया जाए कि दस्तावेज शून्य न होकर मात्र शून्यकरणीय है तो जब तक कि वह सिविल न्यायालय द्वारा रद्द न कर दिया जाए, चकबन्दी प्राधिकारी को उस विलेख को मानना पड़ेगा और उसके आधार पर ही उसे मामले का विनिश्चय करना पड़ेगा.

अधिकारिता विषयक एक अन्य विचारणीय प्रश्न यह है कि उत्तर प्रदेश जोत चकबन्दी अधिनियम के अधीन कार्यवाही में चकबन्दी प्राधिकारियों द्वारा पारित आदेश को रद्द कराने के लिए वाद सिविल न्यायालय में दाखिल किया जा सकता है या नहीं. ऐसा ही प्रश्न **श्रीमती सुमेरा बनाम बैजनाथ** – 1984 रे.डि. 46 में विचारार्थ आया. उसमें वादीगण चकबन्दी कार्यवाही में पारित आदेश को और की गई प्रविष्टियों को इस आधार पर शून्य कराना चाहते थे कि वे कपट और दुस्संधि[2] (मिलीभगत) के परिणाम हैं तथा अधिकारिता-विहीन हैं क्योंकि प्रश्नगत आदेश उन्हें कोई नोटिस दिए बिना किया गया. वादियों ने यह घोषणा मांगी थी कि प्रतिवादियों का सह-खातेदार के रूप में नाम गलत दर्ज है. सिविल न्यायालय की

---

1. viod or voidable. 2. collusion.

अधिकारिता को प्रश्नगत किया गया और तद्विषयक विवाद्यक[1] बनाया गया . यह भी कहा गया कि वाद उत्तर प्रदेश जोत चकबन्दी अधिनियम की धारा 49 के अधीन वर्जित है . पक्षकारों के अभिवचनों के आधार पर और भी अनेक विवाद्यक बनाए गए . विचारण न्यायालय ने विनिश्चय किया कि उसे वाद के विचारण की अधिकारिता है . उत्तर प्रदेश जोत चकबन्दी अधिनियम की धारा 49 द्वारा वाद वर्जित होने के प्रश्न पर भी विचार किया गया . विचारण न्यायालय ने निर्णय किया कि अधिनियम की धारा 49 का वर्जन उस मामले में लागू होगा जबकि वादी यह साबित न कर सके कि चकबन्दी प्राधिकारियों द्वारा की गई कार्यवाही कपट या दुरभिसंधि के कारण दूषित हो गई थी और उस वाद को अधिकारिता न होने के आधार पर प्रारम्भ में ही खारिज नहीं किया जा सकता था . इस प्रकार धारा 49 द्वारा वर्जन के प्रश्न को अंतिम प्रक्रम पर विनिश्चय के लिए मुल्तवी कर दिया गया . साक्ष्य लिखने के बाद विचारण न्यायालय ने यह तथ्य पाया कि वादीगण यह साबित नहीं कर पाए कि सहायक चकबन्दी अधिकारी द्वारा पारित प्रश्नगत आदेश शून्य है या किसी आधार पर रद्द किए जाने योग्य है और इस कारण केवल वादीगण ही परस्पर सह-खातेदार हैं . तदनुसार यह निष्कर्ष निकाला गया कि भूमि के हक और कब्जे की बाबत वाद उत्तर प्रदेश जोत चकबन्दी अधिनियम की धारा 49 द्वारा वर्जित है . अपील न्यायालय ने निर्णय किया कि वाद उत्तर प्रदेश जोत चकबन्दी अधिनियम की धारा 49 के अधीन वर्जित नहीं है . उसने यह भी निष्कर्ष निकाला कि सहायक चकबन्दी अधिकारी द्वारा पारित आदेश शून्य है और रद्द किए जाने योग्य भी है क्योंकि अधिनियम की धारा 21 का पालन नहीं किया गया . किन्तु अपील न्यायालय ने इस प्रश्न का निर्णय नहीं किया कि क्या अपीलार्थीगण विवादित भूखण्डों के एकमात्र खातेदार हैं . न्याय. श्री देवकीनन्दन ने वादपत्र में किए गए अभिवचनों

---

1. issue.

पर विचार करके कहा कि प्रस्तुत मामले में वादीगण द्वारा चाहा गया एकमात्र वास्तविक और प्रभावी अनुतोष यह है कि घोषित किया जाए कि वे वादगत भूमि के अनन्य सीरदार हैं तथा प्रतिवादी सह-सीरदार नहीं हैं; और वे उक्त अनुतोष राजस्व अभिलेखों से प्रतिवादियों के नाम कटाकर तथा उन्हें सही करा कर प्राप्त करना चाहते थे. उक्त अनुतोष वे पर्याप्त और उचित रूप से उत्तर प्रदेश जमींदारी-विनाश और भूमि-व्यवस्था अधिनियम की धारा 229-ख के अधीन दावा द्वारा यह दिखाकर पा सकते हैं कि उनका सीरदार के रूप में कब्जा है और प्रतिवादियों का कब्जा नहीं है. किन्तु यदि उनका कब्जा न हो तो वे उत्तर प्रदेश जमींदारी-विनाश और भूमि-व्यवस्था अधिनियम की धारा 209 के अधीन कब्जे के वाद द्वारा भी अनुतोष पा सकते हैं. ऐसी दशा में निर्णय किया गया कि वाद ग्रहण करने की सिविल न्यायालय की अधिकारिता उत्तर प्रदेश जमींदारी-विनाश और भूमि-व्यवस्था अधिनियम की धारा 331 द्वारा वर्जित है. उन्होंने वादी-अपीलार्थियों का यह तर्क अमान्य किया कि वादियों के द्वारा चाहा गया मुख्य अनुतोष व्यादेश का था और सहायक चकबन्दी अधिकारी के आदेश को रद्द करने का अनुतोष केवल आनुषंगिक था. उन्होंने विनिश्चय किया कि मुख्य अनुतोष सहायक चकबन्दी अधिकारी के आदेश पर राजस्व अभिलेख में की गई प्रविष्टियों के गलत होने की घोषणा का था और व्यादेश का अनुतोष केवल पारिणामिक था. इस प्रकार सिविल न्यायालय को वाद ग्रहण करने व उसका विनिश्चय करने की अधिकारिता नहीं थी. इस निर्णय में विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम[1] की धारा 31 का विचार करके पूरी चर्चा की गई है.

उपर्युक्त की दृष्टि से ध्यान देने योग्य है कि कृषिक भूमि के सम्बन्ध में अधिकार, हक और हित के प्रश्न के विनिश्चय की सिविल न्यायालय की अधिकारिता समय-समय पर समाप्त की जाती रही

1. Specific Relief Act.

है और यह स्पष्ट रूप से समझा जाना चाहिए कि वाद का ग्रहण करने और उसका विनिश्चय करने की अधिकारिता के विषय में गलत निर्णय न किया जाए .

[उत्तर प्रदेश न्यायिक प्रशिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान में वार्ता से]

---

न निषेध्योऽत्यबाधस्तु सेतुः कल्याणकारकः ।
परभूमिं हरन् कूपः स्वल्पक्षेत्रो बहूदकः ॥
– याज्ञवल्क्य 2.1 6 ॥

किसी भी व्यक्ति की भूमि में पानी रोकने के लिए बांध बनाने अथवा कुआं खोदने का निषेध नहीं होना चाहिए क्योंकि उनसे भूमि वाले की हानि बहुत थोड़ी होती है और जन-कल्याण बहुत अधिक होता है। [धर्मशास्त्र में भूमि वाले को भी निर्माण का लाभ दिए जाने का विधान है।]

---

क्षेत्रं गृहीत्वा यः कश्चिन्न कुर्यान्न कारयेत् ।
स्वामिने तत्सदं दाप्यो राज्ञो दण्डं च तत्समम् ॥
– व्यास

यदि कोई व्यक्ति खेत लेकर न स्वयं जोते और न दूसरे से जुतवाए तो उसे भू-स्वामी को (उसके हिस्से की) फसल का मूल्य देने के अतिरिक्त शासन को उतना ही जुर्माना भी देना होगा (क्योंकि उसने भूमि खाली रखकर राष्ट्र की हानि की)।

---

# रिसीवरों की नियुक्ति, अस्थायी व्यादेश, अन्तर्वर्ती आदेश, आदि

– न्यायमूर्ति श्री कृष्ण चन्द्र अग्रवाल
न्यायाधीश, इलाहाबाद उच्च न्यायालय

**रिसीवर :**

रिसीवरों के विषय में विधि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 40 में है . रिसीवर की नियुक्ति केवल उस दशा में की जानी होती है जबकि न्यायालय के समक्ष विवादग्रस्त सम्पत्ति के परिरक्षण[1] के लिए ऐसा करना आवश्यक हो तथा ऐसा करना न्यायसंगत और साम्यापूर्ण[2] हो . सामान्य नियम यह है कि रिसीवर की केवल वही शक्तियां, कर्तव्य और कृत्य होंगे जो कि उसे नियुक्त करने वाले न्यायालय द्वारा सौंपे जाएं . रिसीवर नियुक्त करने वाले न्यायालय को रिसीवरी की आस्तियों[3] पर तथा उनके परिरक्षण, संग्रहण और वितरण के अनुषंगी सभी प्रश्नों पर अधिकारिता होती है . न्यायालय को ऐसी आस्तियों पर अनन्य[4] नियंत्रण प्राप्त होता है तथा अन्य व्यक्ति या न्यायालय उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकते . जैसा कि ऊपर बताया गया, रिसीवर की नियुक्ति तभी की जा सकती है जबकि ऐसा करना न्यायसंगत और सुविधापूर्ण हो . उसकी नियुक्ति सभी संबंधित व्यक्तियों के फायदे के लिए होती है . वह न्यायालय का प्रतिनिधि होता है .

सभी अन्य बातों की भांति रिसीवर की नियुक्ति भी न्यायालय के विवेकाधिकार[5] में होती है . उस अधिकार का प्रयोग मामले की सभी परिस्थितियों पर ध्यान देकर न्यायिक दृष्टि से किया जाना चाहिए . यद्यपि "न्यायसंगत और सुविधापूर्ण" [6] शब्द न्यायालय को

---

1. preservation.
2. just and equitable.
3. assets under receivership.
4. exclusive.
5. discretion.
6. just and convenient.

रिसीवर की नियुक्ति के लिए व्यापक शक्तियां प्रदान करते हैं, किन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि न्यायालय रिसीवर की नियुक्ति केवल इस आधार पर कर दे कि वह उसे सुविधापूर्ण समझता है . उसे इस निष्कर्ष पर पहुंचना होगा कि पक्षकारों के हाथों में छोड़ दिए जाने पर सम्पत्ति के दुर्व्यय की संभाव्यता है . जहां कि न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सम्पत्ति के परिरक्षण[1] की दृष्टि से रिसीवर की नियुक्ति आवश्यक है वहां वह स्वतः भी रिसीवर नियुक्त कर सकता है; उसके लिए आवेदन अनिवार्य नहीं है . मौखिक अनुरोध भी आवेदन का ही प्रभाव रखता है, देखिए – **सी.डी.के. राजा बनाम पी.एस. कुमारस्वामी राजा** – आ.इं.रि. 1955 मद्रास 360; **दर प्रसाद बनाम गोपी किशन** – आ.इं.रि. 1914 इलाहाबाद 4; [**रवि लक्ष्मैया बनाम नागमतु लक्ष्मी** – आ.इं.रि. 1971 आन्ध्र 380]

**हीरा लाल पटनी बनाम लूनकरण संठिया** – आ.इं.रि. 1962 सु.को. 21 में उच्चतम न्यायालय ने रिसीवर के कार्यकाल विषयक विधि संक्षेप में दी है . मोटे तौर पर, उच्चतम न्यायालय ने कहा है :

(1) यदि बाद में रिसीवर की नियुक्ति की जाए तो उसका निर्णय होने तक; नियुक्ति निर्णय द्वारा समाप्त हो जाती है; तथा

(2) यदि बाद में रिसीवर की नियुक्ति उसका कार्यकाल अभिव्यक्त रूप से नियत किए बिना की जाए तो वह तभी तक रहेगा जब तक उन्मोचित न कर दिया जाए .

ऐसा कोई स्थिर मापदण्ड नहीं बताया जा सकता है कि किन-किन आधारों पर रिसीवर की नियुक्ति की जानी चाहिए . प्रत्येक मामले में यह उसके अभिलेख से प्रकट होने वाले तथ्यों पर निर्भर करेगा . विभाजन के बाद के संबंध में कुछ मामलों में यह निर्णय किया गया है कि रिसीवर की नियुक्ति की जा सकती है; किन्तु कुछ

---

1. preservation.

अन्य निर्णयों में, जहां तथ्य भिन्न थे, रिसीवर की नियुक्ति उपयुक्त नहीं मानी गई .

आदेश 40 का नियम 2 उस पारिश्रमिक के विषय में है जो कि रिसीवर की सेवाओं के लिए न्यायालय सामान्य या विशेष आदेश द्वारा नियत कर सकता है . नियम 3 में उसके कर्तव्य दिए गए हैं . नियम 4 के अधीन न्यायालय रिसीवर को कर्तव्य-पालन के लिए विवश कर सकता है .

अंत में हम आपको यह परामर्श देना चाहते हैं कि रिसीवर की नियुक्ति के मामले में न्यायालय को विशेष रूप से सावधान और सतर्क रहना चाहिए . अनेक बार रिसीवरों की नियुक्ति की आलोचना की गई है . रिसीवरों को जो कर्तव्य सौंपे जाएं उनके निर्वहन पर कड़ी दृष्टि रखनी चाहिए . उनके क्रियाकलाप का विनियमन, पर्यवेक्षण और मार्गदर्शन सतर्कतापूर्वक किया जाना चाहिए . [लेख के अन्त में परिशिष्ट भी देखिए] .

**व्यादेश :**

व्यादेश[1] साम्या[2] की कार्यवाही का वह रूप होता है जो कि सम्पत्ति या अन्य अधिकारों की अपूरणीय क्षति से बचाने के लिए अभिप्रेत है और जिसका संज्ञान साम्या न्यायालय किन्हीं कार्यों के प्रतिषेध या किए जाने का आदेश देकर करता है . व्यादेश बहुधा "निषेधादेश" कहे जाते हैं ।

जैसा कि ऊपर बताया गया, व्यादेश एक साम्यात्मक अनुतोष है . यह साम्यात्मक अधिकारिता न्याय, साम्या और शुद्ध अन्तःकरण के सिद्धान्तों से शासित होती है .

सिविल प्रक्रिया संहिता का आदेश 39 अस्थायी व्यादेशों के सम्बन्ध में है, जबकि विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम[3] के अध्याय 8 में स्थायी और आज्ञापक[4] व्यादेशों से संबंधित उपबन्ध हैं . आदेश

---

1. injunction.
2. equity.
3. Specific Relief Act.
4. mandatory.

39 का नियम 2 वहीं लागू होता है जहां कि वाद केवल व्यादेश के लिए हो; जबकि आदेश 39 के नियम 1 के अन्तर्गत सभी प्रकार के वाद आ जाते हैं. नियम 2 में कहा गया है कि वह संविदा भंग करने से या किसी भी प्रकार को अन्य क्षति करने से प्रतिवादी को रोकने के वाद को लागू होता है.

व्यादेश प्राप्त करने के लिए तीन शर्तें पूरी होनी चाहिए : (i) वादी का मामला प्रथम दृष्ट्या बनता हो; (ii) सुविधा का संतुलन उसके पक्ष में हो; (iii) व्यादेश न दिए जाने पर उसे अपूरणीय क्षति होगी. इसके अतिरिक्त, व्यादेश अधिकारतः नहीं मांगा जा सकता; वह देना या न देना विशिष्ट मामले की परिस्थितियों और तथ्यों के अनुसार न्यायालय के स्वस्थ स्वविवेक पर निर्भर करता है.

यह सही है कि न्यायालय को व्यादेश देने या न देने के लिए व्यापक विवेकाधिकार प्राप्त है; किन्तु यह विवेक-आश्रित शक्ति स्वच्छन्द, मनमौजी या असीमित नहीं है. इसका प्रयोग सुप्रतिष्ठित सिद्धान्तों के अनुसार युक्तियुक्त[1] ढंग से किया जाना चाहिए. प्रारम्भिक या अस्थायी व्यादेश के लिए आवेदन पर विचार करते समय सर्वप्रथम यह देखना होगा कि क्या पक्षकारों के बीच तात्त्विक विवाद है और उनमें से कोई एक ऐसा कार्य कर रहा है या तुरन्त करने की धमकी दे रहा है जिससे कि अपूरणीय क्षति होगी अथवा मामले की गुणागुण के आधार पर पूरी सुनवाई के पूर्व वह विवाद की यथापूर्व स्थिति[2] को नष्ट कर देगा. अतः जब तक न्यायालय का तद्विषयक समाधान न हो जाए व्यादेश के लिए आवेदन मंजूर नहीं करना चाहिए.

इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने "प्रथम दृष्ट्या मामला" पद का भाव स्पष्ट करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि इस बात की प्रबल अधिसंभाव्यता[3] होनी चाहिए कि अन्त में वादी वाद में सफल होगा.

---

1. reasonable.
2. status quo.
3. probability.

देखिए – **सैयद मोहम्मद मोहसीन रिजवी बनाम उत्तर प्रदेश राज्य** – आ.इं.रि. 1979 इला. 234 . अनेक निर्णयों का उल्लेख किए बिना यह बता देना पर्याप्त होगा कि प्रारंभिक स्तर पर न्यायालय को आदेश करने के पूर्व मनोनियोग[1] से काम लेना होगा . मामले में कोई तात्त्विक प्रश्न है या नहीं, इसका निर्णय अधिवक्ता द्वारा की गई बहस के विस्तार पर निर्भर नहीं होता . वस्तुतः अनेक अवसरों पर यह देखा गया है कि अधिवक्ता अपनी प्रतिभा से बहुत कमजोर मामले को भी चलने-योग्य दर्शा देते हैं . अतः कसौटी यह नहीं है . उदाहरणार्थ, प्रथम दृष्ट्या मामला होने के प्रश्न का विनिश्चय करते समय न्यायालय यह देख सकता है कि क्या वाद चलने-योग्य भी है . यदि उसका मत हो कि वाद चल ही नहीं सकता तो उसे शक्ति प्राप्त होगी कि अस्थायी व्यादेश के लिए आवेदन खारिज कर दे . इस बात के दृष्टान्तस्वरूप बहुत से निर्णयों का हवाला दिया जा सकता है; किन्तु ऐसा करना हम आवश्यक नहीं समझते .

**दूलाभाई बनाम मद्रास राज्य** – आ.इं.रि. 1969 सु.को. 78 में उच्चतम न्यायालय ने सिविल न्यायालय की अधिकारिता का वर्जन करने वाले सिद्धान्त बताए हैं . प्रश्नगत बात के विनिश्चय में वे सिद्धांत सहायक हो सकते हैं .

**गुजरात राज्य बनाम मंगल ट्रेडर्स** – आ.इं.रि. 1987 गुजरात 234 में एक पेशगी व्यादेश[2] दिया गया था जिसमें प्राधिकारियों को निदेश दिया गया था कि वे तलाशी और अभिग्रहण की कार्यवाही विधि के अनुसार ही करें . गुजरात उच्च न्यायालय ने निर्णय किया :

> "ऐसे पेशगी व्यादेश से कोई होशियार वादकारी तलाशी और अभिग्रहण का सारा प्रयोजन ही बिल्कुल व्यर्थ कर सकता है क्योंकि यह कार्य अनिवार्यतः यकायक और पूर्व सूचना के बिना किया जाना होता है . ऐसा हानि-रहित प्रतीत होने वाला पेशगी आदेश करके जब एक बार तलाशी और अभि-

---

1. application of mind. 2. anticipatory injunction.

ग्रहण रोक दिए जाएं तो उससे पूरा नुकसान हो जाता है और वादी को इस बात का पर्याप्त समय और अवसर मिल जाता है कि तलाशी और अभिग्रहण का पूरा प्रयोजन ही व्यर्थ कर दे तथा उससे प्राधिकारियों को अपूरणीय हानि होगी और फिर इससे कोई काम नहीं बनेगा कि व्यादेश आवेदन या वाद आगे चल कर खारिज कर दिया जाए ."

इसी प्रकार, जहां वाद ही वर्जित हो वहां कोई अस्थायी व्यादेश नहीं दिया जाना चाहिए .

प्रथम दृष्ट्या मामला बनने से ही वादी अस्थायी व्यादेश का हकदार नहीं हो जाता . प्रथम दृष्ट्या मामले के अतिरिक्त सुविधा संतुलन भी होना चाहिए . ऐसा मामला हो सकता है कि वादी के पक्ष में कोई ऐसा तर्क हो जो प्रस्तुत किए जाने योग्य हो, किन्तु फिर भी न्यायालय उस दशा में व्यादेश देने से इंकार कर सकता है जबकि उसकी राय में सुविधा के संतुलन की यह अपेक्षा न हो कि व्यादेश दिया जाए .

तीसरी बात जो सिद्ध की जानी चाहिए वह अपूरणीय क्षति के विषय में है . इसका अर्थ यह है कि वाद में सफल होने पर वादी को उस हानि के लिए प्रतिकर दिलाना पर्याप्त नहीं होगा, जो कि अस्थायी व्यादेश न दिए जाने के कारण उसे होगी .

न्यायालय की व्यादेश देने की शक्ति का प्रयोग कम से कम और अत्यन्त सतर्कता तथा सावधानी से और विचारपूर्वक किया जाना चाहिए . यह ध्यान देने योग्य है कि आदेश 39 नियम 2 न्यायालय को शक्ति प्रदान करता है कि प्रतिवादी को किसी अन्य प्रकार की क्षति पहुंचाने से रोकने के लिए व्यादेश जारी करे . "क्षति" शब्द के अर्थ पर अनेक उच्च न्यायालयों द्वारा विचार किया गया है . इस विवाद पर कि क्या न्यायालय को ऐसा व्यादेश जारी करने का विवेकाधिकार है जो विधि-पूर्वक प्राप्त डिक्री के निष्पादन से रोके, न्यायमूर्ति फिलिप्स ने **वरदाचार्युलू बनाम नरसिंहाचार्युलू** – आ.इं.रि. 1926 मद्रास 1958 में कहा :

"अभिकथित क्षति विधिपूर्वक प्राप्त डिक्री के निष्पादन की है . यह निष्कर्ष निकालने के लिए कि उससे क्षति होती है यह निष्कर्ष निकालना आवश्यक है कि डिक्री अवैध है; क्योंकि यदि डिक्री वैध है तो प्रतिवादी को उसके निष्पादन का पूरा अधिकार है और उसके ऐसा करने के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वह कोई क्षति करता है ."

इस निर्णय का अनुमोदन मद्रास उच्च न्यायालय के एक खण्ड न्यायपीठ ने **शंकर अय्यर बनाम मोहम्मद गनी रावदर** – आ.इं.रि. 1936 मद्रास 276 में किया .

**प्रभूदयाल बनाम लालदास मगनलाल** – आ.इं.रि. 1939 इलाहाबाद 643 में यह बताया जा चुका है कि किसी व्यक्ति को उसमें विधिपूर्वक निहित अधिकार का प्रयोग करने से आदेश 39 नियम 2 के अधीन विधितः रोका नहीं जा सकता .

आदेश 39 नियम 2 का राज्य विधान-मंडल ने संशोधन करके उसमें गिनाए गए मामलों में व्यादेश जारी करने से रोक दिया है . इस संदर्भ में उपनियम (2) का उल्लेख किया जा सकता है . सुसंगत अंश इस प्रकार हैं :

"परन्तु ऐसा कोई व्यादेश –

(क) जहां विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 की धारा 38 और धारा 41 के उपबन्धों को ध्यान में रखते हुए कोई शाश्वत व्यादेश अनुदत्त न किया जा सके वहां .... अनुदत्त नहीं किया जाएगा ."

अन्य संशोधनों का समावेश खण्ड (ख) से (ज) तक में है . व्यादेश के लिए आवेदन पर विचार करते समय न्यायालय को इन सब उपबन्धों का ध्यान रखना चाहिए .

आपको आदेश 39 के अन्य नियमों की बाबत बताने की आवश्यकता नहीं है . हम आपको केवल मोटी-मोटी बातें बताना चाहते हैं जिनका ध्यान आपको व्यादेश के आवेदन पर निर्णय करते समय रखना चाहिए . बहुधा इस विषयक अधिकारिता को उचित महत्व

नहीं दिया जाता . इसके अतिरिक्त जब न्यायालय के पास कार्य अधिक हो तो अस्थायी व्यादेश मिल जाने के बाद वाद के अंतिम निर्णय में विलम्ब से वाद के पूरे उद्देश्य की ही पूर्ति हो जाएगी . बहुधा कहा जाता है कि यदि आदेश यथापूर्व स्थिति बनाए रखें तो उससे पक्षकारों को हानि नहीं होती . प्रथम दृष्ट्या ऐसा लगता भी है . किन्तु यह भी तो देखना होगा कि यथापूर्व स्थिति क्या है . कार्पस ज्यूरिस सेकण्डम, खण्ड 43, के पृष्ठ 781 पर इस प्रश्न पर निम्न-लिखित चर्चा की गई है :

> **यथापूर्व स्थिति :–** यथापूर्व स्थिति, जिसका परिरक्षण प्रारम्भिक व्यादेश द्वारा किया जाएगा, वह अंतिम, वास्तविक, शांतिपूर्ण, निर्विवाद स्थिति होती है जो विचाराधीन विवाद के पूर्व में थी, अर्थात् विचाराधीन विवाद का पूर्वगामी अंतिम निर्विवाद तथ्यों का समुच्चय . यह भी कहा गया है कि परिरक्षित की जाने वाली यथापूर्व स्थिति वह स्थिति है जो कि विवादग्रस्त संपत्ति के अपव्यय या नाश को रोकने के लिए है, अर्थात् वह जिससे किसी पक्षकार को हानि न हो . जिस यथापूर्व स्थिति का परिरक्षण किया जाता है वह क्रिया की स्थिति भी हो सकती है और विराम की भी . वह केवल न्यायालय की वाद के दौरान व्यादेश जारी करने की शक्ति पर सीमा लगा देती है, वह ऐसा न घट सकने वाला न्यूनतम नहीं है जिसका कि वादी गुणागुण पर विचारण के दौरान पूर्ण एवं निर्विवाद रूप से हकदार हो; किन्तु यथापूर्व स्थिति ऐसी वस्तुस्थिति नहीं हो सकती जो विधि की उल्लंघनकारी हो ."

**आचार-व्यवहार :**

हाल में नागपुर में हुए एक कार्यक्रम में हमारे देश के प्रसिद्ध विधि-शास्त्री श्री पालकीवाला ने विचार व्यक्त किया : "अब न्याया-लय मंदिर नहीं रह गए हैं; वे जुआघर हो गए हैं और इससे न्याय-तन्त्र में आस्था घटने के संकेत मिलते हैं ." अर्थात् वादों का निर्णय उतना ही अनिश्चित हो गया है जैसे जुआ का फल ।

तीस से अधिक वर्ष हुए जब प्रधान मंत्री नेहरू ने एक भिन्न संदर्भ में भारत के उच्चतर न्यायालयों द्वारा न्याय को अवरुद्ध करने के लिए विधि के उपयोग पर आपत्ति की थी :

> "..... हम अपने वचन का पालन करेंगे. सीमाओं के भीतर रहते हुए कोई न्यायाधीश या उच्चतम न्यायालय तृतीय सदन नहीं बन सकता . कोई उच्चतम न्यायालय या कोई भी न्यायालय समग्र समाज की इच्छा का प्रतिनिधित्व करने वाली संसद् की प्रभुत्वसंपन्न इच्छा के औचित्य का निर्णायक नहीं बन सकता ."

"ज्यूडिशियल जस्टिस" नामक अपनी पुस्तक में न्यायमूर्ति श्री कृष्ण अय्यर ने एक यथार्थवादी के रूप में कहा है :

> "हमें यह भी समझना चाहिए कि उच्चतर न्यायालय न्यायिक ध्रुवीकरण[1] से ग्रस्त हैं . एक न्यायपीठ दूसरे की उपेक्षा करता है और किसी को भी न्यायालय में किसी भी स्तर पर अपने भाग्य का तब तक पता नहीं चलता जब तक कि सुनवाई करने वाले न्यायाधीश और बहस करने वाले अधिवक्ता ज्ञात न हो जाएं . भूस्वामी वाले न्यायाधीश और किराएदार वाले न्यायाधीश, पूंजीपति समर्थक न्यायाधीश, श्रमिक समर्थक न्यायाधीश, उदार न्यायाधीश और कठोर निर्वचन करने वाले न्यायाधीश, विशिष्ट न्यायपीठों के कृपापात्र अथवा प्रेमपात्र अधिवक्ता और शप्त अधिवक्ता जिनकी उपस्थिति से ही कुछ न्यायालय उखड़ जाते हैं – ये बेतुकी विकृतियां वास्तविक हैं, भले ही कोई इंकार करे, और उनके ही कारण अवांछनीय मुकदमेबाजी को और अनुकूल संयोग की आशा में फिजूल खर्च वाली कार्यवाही को अवसर मिलता है . और भी अनेक अनाचार होते हैं . हम उन्हें कैसे रोकेंगे ? हम विधि को किस प्रकार कम त्रुटिपूर्ण और संगत बनाएंगे जो व्यक्तिपरक कम

---

1. polarisation.

और प्रगतिपूर्ण अधिक हो ."

ये ऐसी बातें हैं जिन पर उच्चतर न्यायालयों द्वारा विचार की आवश्यकता है . मुंसिफों के रूप में आप अपने को बाह्य प्रभावों से मुक्त रखकर न्यायालय का स्तर बनाए रख सकते हैं . जब न्याय की डंडी को उसे थामने वाले हाथ ही झुका दें तो फिर संतुलन स्थापित करने वाली कोई अन्य शक्ति नहीं बचती .

हमारी सलाह है कि आप अस्थायी व्यादेश देने या किसी भी अन्य महत्त्वपूर्ण आवेदन पर निर्णय देने के पूर्व फाइल घर पर पढ़ लें . इससे वादकारियों और अधिवक्ताओं में आपके प्रति तथा न्याय-तन्त्र के प्रति आस्था जगेगी . यह दुर्भाग्य की बात है कि बहुत से न्यायिक अधिकारी खुला मस्तिष्क रखकर नहीं, बल्कि खाली मस्तिष्क रखकर न्यायालय आते हैं .

अधिवक्ता बहुधा लम्बी बहस करते हैं . न्यायालय के समय को नष्ट करना उनका विशेषाधिकार नहीं है . बहस पर नियंत्रण रखना न्यायाधीश का कर्तव्य है . यदि न्यायालय में होने वाले विलम्ब को घटाना है तो बहस पर नियंत्रण रखने की विशेष आवश्यकता है . यह प्रशंसनीय है कि अमरीकी सुप्रीम कोर्ट में अधिवक्तागण आवंटित 30 मिनट तक ही बोलने के स्थान पर खड़े होकर बहस करते हैं और तीसवां मिनट समाप्त होते ही अपनी कुर्सी पर वापस चले जाते हैं . क्या यह कहा जा सकता है कि वहां न्याय नहीं किया जा रहा है ? किंतु आप बहस के विस्तार पर अपना नियंत्रण तभी रख सकते हैं जब आप बराबर निर्णयज विधि से अपने को अवगत रखें तथा न्यायालय जाने के पूर्व सुसंगत उपबन्धों को पढ़ लें . सामान्यतया ऐसा कोई मामला नहीं होता जिसमें वांछित आदेश की एक या दो दिन प्रतीक्षा न की जा सके .

**निर्णय :**

आज की समस्या है कि अच्छा और प्रभावी निर्णय कैसे लिखा जाए . उसके अनेक पक्ष हैं . उन पर चर्चा करने के पूर्व यह उचित होगा कि न्यायालय के निर्णय के आवश्यक तत्वों का विश्लेषण कर

लिया जाए . अच्छे निर्णय में सर्वोपरि आवश्यकता **कारणों** की होती है . निर्णय का मूल्य उसके कारणों की सबलता पर निर्भर करता है . उसका महत्त्व, उसकी आबद्धकारिता, व उसकी कारक शक्ति प्रस्तुत किए गए कारणों पर निर्भर करती है . अत: कारणों में ही निर्णय की आत्मा निहित होती है · कारण स्वत:पूर्ण होने चाहिए . यह आवश्यक है कि निर्णय में तथ्य और विधि की आवृत्ति न की जाए . **संक्षिप्तता** अच्छे निर्णय की आत्मा होती है, किन्तु यह संक्षिप्तता वहीं तक होनी चाहिए जहां तक वह स्पष्टता से संगत हो . शब्द-बाहुल्य निर्णय का एक दोष होता है . क्योंकि अधिवक्ताओं से आशा की जाती है कि वे न्यायालय में बहस करते समय तथ्य और विधि का विश्लेषण करें, अत: न्यायाधीश से भी अपेक्षा की जाती है कि निर्णय में व्यक्त निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए तथ्य और विधि का विश्लेषण उचित क्रम से करे . अच्छे निर्णय में **पूर्व निर्णयों के आवश्यक निर्देश** होने चाहिए . केवल सुसंगत निर्णयों का उल्लेख होना चाहिए . निर्णय **निश्चयात्मक** होना चाहिए . एक प्रसिद्ध अंग्रेजी न्यायाधीश ने विनोद में कहा है : "अपना निर्णय दें, किन्तु अपने कारणों और विस्तार को बचाए रखें क्योंकि अधिकांश मामलों में आप पाएंगे कि आपका निर्णय सही है किन्तु आपके कारण और विस्तार गलत और त्रुटिपूर्ण हैं ."

निर्णय में बहुधा अधिवक्ताओं द्वारा प्रस्तुत बहस ही प्रतिबिम्बित होती है . कुछ सीमा तक यह अनिवार्य भी है; किन्तु बहस को उचित से अधिक महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए .

अन्त में, निर्णय अभिव्यक्ति-शक्ति पर निर्भर करता है . ऐसे **शब्दों का प्रयोग करना** चाहिए जो दुविधात्मक[1] न हों . शब्द-बाहुल्य, अत्युक्ति, सजावट तथा अलंकारों का अनावश्यक प्रयोग अच्छे निर्णय में नहीं होने चाहिए .

अत: अच्छे निर्णय से महत्त्वपूर्ण सुसंगत तथ्यों का सबेर होना

1. ambiguous.

चाहिए, विवाद्यकों का स्पष्ट वर्णन होना चाहिए, बहस की तर्कयुक्त चर्चा होनी चाहिए और प्रत्येक विवादग्रस्त प्रश्न पर एक निश्चात्मक निष्कर्ष होना चाहिए .

# परिशिष्ट

## रिसीवर की नियुक्ति – सिद्धान्त

आ.इ.रि. 1955 मद्रास 430

टी. कृष्णास्वामी चेट्टी ..... वादी

बनाम

बी.सी. तंगवेलु चेट्टी तथा अन्य .... प्रतिवादी

सिविल वाद सं. 295 सन् 1953 (अकिंचन) तथा आवेदन सं. 4205 सन् 1954

(क) सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 – आदेश 40, नियम 1 – रिसीवरों की नियुक्ति के लिए आवेदन – "न्यायसंगत और सुविधा-पूर्ण" – रिसीवरों को नियुक्त करने के लिए सिद्धान्त बताए गए .

x x x

13. जिन पांच सिद्धान्तों को रिसीवरों की नियुक्ति करने की साम्या अधिकारिता का प्रयोग करने वाले हमारे न्यायालयों का "पंच सदाचार" कहा जा सकता है, वे निम्नलिखित हैं :

(1) वाद के दौरान के लिए रिसीवरों की नियुक्ति न्यायालय के विवेकाधिकार पर निर्भर करती है . यह विवेकाधिकार स्वच्छन्द या असीमित नहीं होता; वह स्वस्थ और न्यायिक विवेकाधिकार होता है, जिसमें मामले की सभी परिस्थितियों पर ध्यान दिया जाता है और जिसका उपयोग न्याय के उद्देश्य की पूर्ति के प्रयोजनार्थ तथा विवाद की विषय-वस्तु में हितबद्ध सभी पक्षकारों के अधिकारों के संरक्षण के लिए होता है, और जो इस बात पर आधारित होता है कि न्यायिक कार्यवाही के वांछित उद्देश्य की पूर्ति के लिए कोई अन्य पर्याप्त उपचार या साधन उपलब्ध नहीं है : मातुश्री बनाम मातुश्री –

19 मद्रास 120 (प्रि.का.); शिवज्ञानाथम्मल बनाम अरुणाचलम पिल्लई – 21 मद्रास ला ज. 821; हबीबुल्ला बनाम अबतिआबुल्ला – आ.इं.रि. 1918 कलकत्ता 882; तीरथ सिंह बनाम शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी – आ.इं.रि. 1931 लाहौर 688; घनश्याम बनाम मोराबा – 18 बम्बई 474; जगत तारिणी दासी बनाम नवगोपाल चाकी – 34 कलकत्ता 305; शिवाजी राजा साहिब बनाम ऐश्वर्यानन्दजी – आ.इं.रि. 1915 मद्रास 926; प्रसन्नमयी देवी बनाम बेनी माधव राय – 5 इला. 556; सिद्धेश्वरी देवी बनाम अभयेश्वरी देवी – 15 कलकत्ता 818; शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी, अमृतसर बनाम धरम दास – आ.इं.रि. 1925 लाहौर 349; भुपेन्द्र नाथ बनाम मनोहर मुकर्जी – आ.इं.रि. 1924 कलकत्ता 456.

(2) न्यायालय को रिसीवर केवल तब नियुक्त करना चाहिए जबकि वादी यह साबित कर दे कि वाद में उसकी सफलता के प्रथम दृष्ट्या बहुत अवसर है : धूनी बनाम नवाब सज्जाद अली खान – 1923 लाहौर 623; फर्म ऑफ रघुबीर सिंह जसवन्त बनाम निरंजन सिंह – 1923 लाहौर 48; सियाराम दास बनाम महावीर दास – 27 कलकत्ता 279; मुहम्मद कासिम बनाम नागराज मूपनार – 1928 मद्रास 813; बनवारी लाल चौधरी बनाम मोती लाल – 1922 पटना 493.

(3) वादी को केवल सम्पत्ति के परस्पर विरोधी दावों के अस्तित्व को ही प्रकट नहीं करना चाहिए अपितु उसे आपात या ऐसी हानि का खतरा भी प्रकट करना चाहिए जिसमें तुरन्त कार्रवाई करने की आवश्यकता हो और अपने अधिकारों के विषय में उसे उचित तौर पर स्पष्ट व संदेह-रहित होना चाहिए. खतरे का तत्त्व विचार में ली जाने वाली एक महत्त्वपूर्ण बात है. न्यायालय खतरा संभव होने के आधार पर ही कार्य नहीं करेगा; खतरा ऐसा बड़ा और आसन्न होना चाहिए जिसमें तुरन्त अनुतोष की आवश्यकता हो. यह ठीक ही कहा गया है कि न्यायालय केवल इस आधार पर रिसीवर की नियुक्ति नहीं करेगा कि उससे कोई हानि नहीं होगी :

**मंघनमल ताराचन्द बनाम मिकनबाई** – 1933 सिंध 231; **बिदुर-रामजी बनाम केशवरामजी** – 1939 अवध 61; **शिवम्बर बान बनाम मोहन बान** – 1941 अवध 328.

(4) रिसीवर की नियुक्ति का आदेश तब नहीं किया जाएगा जब उसका परिणाम यह हो कि प्रतिवादी अपने कब्जे से वंचित हो जाए क्योंकि उससे अपूरणीय क्षति हो सकती है. यदि विवाद केवल हक के विषय में हो तो न्यायालय रिसीवर की नियुक्ति करके कब्जे में हस्तक्षेप करने का अनिच्छुक रहेगा; किन्तु यदि सम्पत्ति को खतरा और हानि की संभाव्यता हो और कब्जेदार व्यक्ति ने उसका कब्जा कपट या बलपूर्वक प्राप्त किया हो तो संपत्ति की सुरक्षा के लिए न्यायालय रिसीवर की नियुक्ति करके हस्तक्षेप करेगा. तब स्थिति भिन्न होगी जबकि संपत्ति किसी के भी कब्जे में न हो क्योंकि तब न्यायालय कब्जा लेने में किसी को हानि नहीं पहुंचाएगा; तब यह सब पक्षकारों के हित में होगा कि न्यायालय छीनाझपटी को रोक दे क्योंकि कोई भी व्यक्ति संपत्ति का विधिपूर्वक उपभोग नहीं कर रहा है और उसे लेकर उसका सफल होने वाले विधितः हकदार व्यक्ति के फायदे के लिए परिरक्षण करने से कोई हानि नहीं होगी. अतः यदि अपव्यय और कुप्रबन्ध का कोई कथन नहीं भी हो तब भी जब संपत्ति पर किसी का कब्जा नहीं है तो वह न्यायालय को रिसीवर नियुक्त करने की अधिकारिता देता है – **नीलाम्बर दास बनाम नवल बिहारी** – 1927 पटना 220; **अल्कामा बीबी बनाम सैय्यद इशितयाक हुसैन** – 1925 कलकत्ता 970; **मधुरिया देव्या बनाम शिव-दयाल सिंह** – 14 कल. वी. नो. 252; तथा **भुवनेश्वर प्रसाद बनाम राजेश्वर प्रसाद** – 1948 पटना 195. अन्यथा विवादित संपत्ति पर सद्भावपूर्वक कब्जा रखने वाले व्यक्ति को वंचित करने के लिए रिसीवर की नियुक्ति नहीं की जानी चाहिए. और जब तक कि तत्प्रतिकूल सिद्ध या निस्संदेह रूप से प्रकट न हो, उपधारणा सद्भाव की होनी चाहिए.

(5) रिसीवर के लिए आवेदन पर न्यायालय आवेदनकर्ता

पक्षकार के आचरण की ओर भी ध्यान देता है और यदि उसका आचरण निर्दोष न हो तो न्यायालय हस्तक्षेप करने से प्रायः इंकार कर देगा . उसे न्यायालय स्वच्छ हृदय से आना चाहिए तथा अति-विलम्ब[1], विलम्ब या उपमति[2] आदि द्वारा साम्यापूर्ण अनुतोष से वंचित नहीं होना चाहिए .

14. जैसा कि **क्राफोर्ड बनाम रौस** – 39 ग . 44 में बताया गया, उपसंहार यह है :

> "न्यायाधीश के आदेश से किसी के हाथ से संपत्ति ले लेना तथा उसे परिबद्ध करने का उच्च विशेषाधिकार वाला आदेश तब के सिवाय नहीं किया जाना चाहिए जबकि वह तुरन्त आसन्न प्रत्यक्ष दोष को रोकने के लिए हो ."

**डोजियर बनाम लोगन** – 101 ग . 173 में न्यायमूर्ति एट-किन्सन ने कहा :

> "रिसीवर की नियुक्ति को अधिकारों के प्रवर्तन के लिए विधि द्वारा उपबन्धित अधिकतम कठोर उपचारों में माना जाता है . वह चरम मामले में ही अनुमत है जहां कि परि-स्थितियां ऐसी हों कि लेनदारों के हित के लिए स्पष्ट खतरा प्रकट हो ."

अतः इस अत्यन्त नाजुक और उत्तरदायित्वपूर्ण कर्तव्य का निर्व-हन अधिकतम सावधानी से किया जाना चाहिए और तभी जब कि "पंच सदाचार" अर्थात् "न्यायसंगत और सुविधापूर्ण" पद (आदेश 40, नियम 1) में समाहित चार अपेक्षाएं विचाराधीन मामले के तथ्यों से पूरी हो जाएं – **रामचन्द्रम्मा बनाम नेति ईश्वरम्मा** – 1952 हैदराबाद 139 .

[उत्तर प्रदेश न्यायिक प्रशिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान में वार्ता से]

---

1. laches. 2. acquiescence.

# विवाद्यकों की विरचना और पक्षकारों की परीक्षा

– न्यायमूर्ति श्री जगेन्द्र लाल मित्तल
न्यायाधीश, इलाहाबाद उच्च न्यायालय

विवाद्यकों[1] की विरचना सिविल वाद की कार्यवाही का एक बहुत महत्त्वपूर्ण चरण है; किन्तु बहुधा इसकी सर्वाधिक उपेक्षा की जाती है. आज चलन यह हो गया है कि पीठासीन अधिकारी पक्षकारों के अधिवक्ताओं के सुझाव पर ही विवाद्यक बना देते हैं और स्वयं अभिवचनों[2] और अन्य सामग्री की ओर ध्यान नहीं देते. प्रायः अधिवक्तागण भी इस पर समय खर्च करना उपयोगी नहीं समझते; बल्कि वे उसे समय नष्ट करना मानकर यह कार्य प्रायः कनिष्ठ अधिवक्ता पर छोड़ देते हैं. सतही तौर पर और बिना ध्यान दिए विवाद्यक बनाने के कारण हमारी न्याय-प्रणाली को बहुत नुकसान पहुंचता है. यह वांछनीय है कि हम इधर ध्यान देकर चक्र अनुकूल दिशा में घुमाएं.

**महत्त्व** :– आप सब ने क्रिकेट, हाकी या फुटबाल का खेल तो देखा ही होगा. आपने यह भी देखा होगा कि उसमें अम्पायर और रेफरी होते हैं जो खेल की प्रगति पर नियंत्रण रखते हैं और यह सुनिश्चित करते हैं कि खेल नियमानुसार और ईमानदारी से हो तथा एक पक्ष दूसरे पक्ष का अनुचित लाभ न उठा ले. अपने कर्तव्यों के निर्वहन में रेफरी को सच्चा और निष्पक्ष होना चाहिए तथा नियमों का भी, उनकी सभी जटिलताओं सहित, ज्ञान होना चाहिए. न्यायपीठ पर बैठने वाले न्यायिक अधिकारी की भूमिका भी वैसी ही होती है. उसे भी इस

---

1. issues. 2. pleadings.

विषय में सतर्क रहना चाहिए कि पक्षकार स्पष्ट और विनिर्दिष्ट तौर पर अभिवचन करके ईमानदारी बरतें, महत्त्वपूर्ण तथ्यों से इंकार या उन्हें स्वीकार उचित और दुविधा-रहित ढंग से करें, और उसके कारण दें. तत्पश्चात् ही उसे विवाद्यक बनाने के लिए अग्रसर होना चाहिए.

वकालत के दौरान मुझे बहुत से न्यायिक अधिकारी देखने और उनकी कार्यप्रणाली का अध्ययन करने के अवसर मिले. मैं खण्डन के किसी भय के बिना कह सकता हूं कि मुकदमे की प्रगति पर नियंत्रण रखने के मामले में वे अधिकारी जो विवाद्यक बनाते समय ध्यान देते थे उन अधिकारियों की अपेक्षा जो यंत्रवत् कार्य करते थे हमेशा बेहतर स्थिति में होते थे. विवाद्यक बनाना एक फालतू कवायद नहीं है; बल्कि उससे पीठासीन अधिकारी को मामले पर पकड़ जमती है और वह यह ठीक से जान जाता है कि किस पक्ष का कथन क्या है और दूसरे की सफाई क्या है.

**प्रक्रम** :– जैसा कि आप जानते हैं, विवाद्यकों की विरचना का प्रक्रम तब आता है जब पक्षकार अपने-अपने अभिवचन तथा उनके समर्थन में दस्तावेज दाखिल कर चुके होते हैं. यह मामले की "पहली सुनवाई" भी कहलाती है. इससे ही यह प्रकट होता है कि समय आ गया है कि न्यायालय पक्षकारों के अभिवचनों की परीक्षा करे और उन्हें भली-भांति समझे. इससे यह देखने का अवसर मिलता है कि वादी अपना मामला विधि और तथ्य के संबंध में किस सामग्री से और किस प्रकार साबित करना चाहता है. तभी उसे विधि और तथ्यों पर प्रतिरक्षा[1] की परीक्षा का भी अवसर मिलता है, जिसके द्वारा प्रतिवादी, वादी का दावा विफल करना चाहता है. इतना करने के बाद न्यायालय को सुनिश्चित करना चाहिए कि तथ्य-विषयक कोई महत्त्वपूर्ण कथन ऐसा न बचे जिसे दूसरे पक्षकार ने स्वीकार या इंकार न किया हो. जैसा कि आप जानते हैं, तथ्यों के महत्त्वपूर्ण

1. defence.

कथन वे होते हैं जिन्हें साबित करके ही वादी अपने दावे में सफल हो सकता है या प्रतिवादी दावे को विफल कर सकता है .

**अभिवचनों का स्पष्टीकरण** :– जब अभिवचन अस्पष्ट हों या अकुशल ढंग से तैयार किए गए हों तो न्यायाधीश का कर्तव्य हो जाता है कि विवादकों की विरचना के पहले यह स्पष्ट कर ले कि विवाद किन प्रश्नों पर है . यह न्यायाधीश का कर्तव्य होता है कि अभिवचनों के स्पष्टीकरण के लिए पक्षकारों या उनके अधिवक्ताओं की सिविल प्रक्रिया संहिता[1] के आदेश 10 नियम 2 के अधीन परीक्षा करे या उनसे किसी विशेष बिंदु पर अतिरिक्त अभिवचन दाखिल करने के लिए कहे . उद्देश्य यह होना चाहिए कि पक्षकारों को विशिष्ट तथ्यों के कथन से बांध दिया जाए और ऐसे विधिक प्रश्नों पर भी, जो तथ्यों पर निर्भर करते हों, उन्हें परिसीमित कर दिया जाए . न्यायालय का यह अनिवार्य कर्तव्य है कि सभी दुविधात्मक और अस्पष्ट अभिवचनों का पहले स्पष्टीकरण करा ले .

**अभिवचनों में बहुधा पाई जाने वाली अस्पष्टता** :– सिविल वाद में कार्यवाही करते समय आप बहुधा पाएंगे कि प्रतिरक्षा में विधि के प्रश्न पर अस्पष्ट अभिवचन किए गए हैं . प्रायः ये अभिवचन इस प्रकार होते हैं : वाद परिसीमा-वर्जित[2] है; न्यायालय को अधिकारिता[3] नहीं है; वाद का मूल्यांकन कम है तथा अदा की गई न्यायालय फीस भी कम है; वाद त्रुटिपूर्ण है क्योंकि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 80, संपत्ति अंतरण अधिनियम[4] की धारा 106 के अधीन या किसी अन्य कानून के अधीन विधिमान्य नोटिस की तामील नहीं की गई है; वाद पक्षकारों के असंयोजन[5] या कुसंयोजन[6] के कारण दोषपूर्ण है, आदि-आदि . ऐसे अभिवचनों में प्रायः यह नहीं बताया जाता कि वाद किस प्रकार परिसीमा-वर्जित है, या न्यायालय की अधिका-

---

1. C. P. C.
2. time-barred.
3. jurisdiction.
4. T. P. Act.
5. non-joinder.
6. mis-joinder.

रिता किस प्रकार वर्जित है, या वाद के मूल्यांकन में क्या कमी है, या नोटिस में क्या गलती थी . अतः इस बात पर आग्रह करना सदैव उचित होगा कि ऐसे अभिवचन करने वाला पक्षकार अपनी बात को स्पष्ट करे जिससे कि दूसरे पक्षकार को उसका सामना करने का उचित अवसर मिले . यदि आवश्यक हो तो पक्षकार से कहा जा सकता है कि परिसीमा अधिनियम[1] की सुसंगत धारा या अनुच्छेद[2] अथवा अन्य सुसंगत उपबन्ध बताए जिस आधार पर उसने अपने अभिवचन किए हैं . इससे पक्षकारों के बीच का विवाद परिसीमित करने में सहायता मिलेगी तथा उचित विचारण भी हो सकेगा, क्योंकि दूसरे पक्षकार के सामने कोई बात अचानक नहीं आएगी .

**स्पष्टीकरण का प्रभाव** :– आगे विचारण का मार्ग उचित तौर पर निर्धारित करने की न्यायालय की महान् शक्ति और प्रथम कर्तव्य इसी में निहित है . यदि इस प्रकार अभिवचन स्पष्ट करा लिए जाएं, प्रतिरक्षा भी स्पष्ट करा ली जाए, और न्यायालय तथा पक्षकार विधि-प्रश्न समझ जाएं तो वह समय का बड़ा सदुपयोग होगा . यह सब होने पर आप पाएंगे कि उसके परिणामस्वरूप साक्ष्य की मात्रा भी बहुत घट जाएगी तथा वह बेहतर प्रकार का हो जाएगा, जिससे आपके लिए मामले का निर्णय करना और भी सरल हो जाएगा .

**विवाद्यकों के लिए सामग्री** :- न्यायालय को पक्षकारों के दस्तावेजी साक्ष्य की भी परीक्षा करनी चाहिए . आप पाएंगे कि विवाद्यकों की विरचना विषयक आदेश 14 नियम 2 और 3 में स्पष्ट उपबन्ध है कि विवाद्यकों की विरचना निम्नलिखित सभी सामग्री से या उसमें से किसी से की जा सकती है :-

1. पक्षकारों द्वारा या उनकी ओर से उपस्थित किन्हीं व्यक्तियों द्वारा या ऐसे पक्षकारों के प्लीडरों द्वारा शपथ पर किए गए अभिकथन;
2. अभिवचनों में या बाद में परिदत्त परिप्रश्नों[3] के उत्तर में किए

---

1. Limitation Act. 2. article. 3. interrogatories.

गए अभिकथन;

3. पक्षकारों द्वारा पेश की गई दस्तावेजों की अंतर्वस्तु .

**दस्तावेज :-** संहिता की योजना से आपको प्रकट होगा कि विवाद्यकों के प्रक्रम तक विचारण लगभग आधा हो चुका होता है और वह ऐसा प्रक्रम होता है जिस पर कि न्यायालय को विवाद्यक बनाने के पूर्व रुककर पिछली कार्यवाही और अपने समक्ष की सामग्री पर दृष्टिपात करना चाहिए . अभिवचनों के अतिरिक्त न्यायाधीश को दाखिल किए गए कागजों की भी समीक्षा उनकी ग्राह्यता की दृष्टि से करनी चाहिए . न्यायालय को यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि दोनों पक्षकारों की दस्तावेजें संहिता के आदेश 13 के अनुसार उचित प्रकार से स्वीकार या इंकार की जा चुकी हैं . स्वीकृति या इंकारी यंत्रवत् लिख देने को निरुत्साहित करना चाहिए . दस्तावेज से इंकार करने वाले पक्षकार से कहा जाना चाहिए कि इंकार का कारण बताए, अर्थात् कि वह उसकी वास्तविकता प्रश्नगत करता है या स्टाम्प पूरा न होने के कारण या किसी अन्य आधार पर उसे अग्राह्य[1] कहता है . जो दस्तावेजें अग्राह्य पाई जाएं वे अस्वीकार करके लौटा दी जानी चाहिए . यह कर देने के बाद ही विवाद्यकों की विरचना का अवसर आएगा .

**विवाद्यकों की विरचना की आवश्यकता :-** बहुधा प्रश्न उठता है कि विवाद्यकों की विरचना की ही क्यों जाए . अभिवचनों तथा विवाद्यकों का प्रयोजन यह है कि पक्षकारों के बीच का वास्तविक विवाद स्पष्ट हो जाए तथा संघर्ष-क्षेत्र को कम करके यह स्पष्ट कर लिया जाए कि पक्षकारों में मतभेद कहां-कहां है . यह इसलिए है कि एक पक्षकार दूसरे के समक्ष कोई नया मुद्दा अचानक न उपस्थित कर दे .

विवाद्यकों का एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपयोग यह है कि वे पक्षकारों का आवश्यक साक्ष्य देने में मार्ग-दर्शन करते हैं जिससे कि वे बाद में यह न कह सकें कि उन्हें पता नहीं था कि इस बात पर विवाद है

---

1. inadmissible.

अन्यथा वे साक्ष्य दे देते . वे इस दृष्टि से भी आवश्यक हैं कि न्यायालय उठाए गए सभी प्रश्नों का विनिश्चय करने के लिए सतर्क रहे . आदेश 20 का नियम 5 न्यायालय को बाध्य करता है कि प्रत्येक विवाद्यक पर अपना निष्कर्ष या विनिश्चय लिखे .

**उचित विवाद्यक :–** जैसा कि आदेश 14 के नियम 1 में बताया गया है, जब कभी तथ्य या विधि की कोई महत्त्वपूर्ण बात एक पक्षकार द्वारा कही जाए और दूसरे पक्षकार द्वारा उससे इंकार किया जाए तो विवाद्यक उत्पन्न होता है . अतः विरचित विवाद्यक की भाषा स्पष्ट होनी चाहिए और ऐसी होनी चाहिए कि वह बात स्पष्ट हो जाए जिस पर उस विवाद्यक के अंतर्गत न्यायालय विचार करना चाहता है . लिखित कथन[1] में स्पष्टतः यह बताए बिना कि वाद किन कारणों से चलने योग्य नहीं है, केवल मोटे तौर पर यह कह देने से कि वाद विधितः चलने योग्य नहीं है विवाद्यक उत्पन्न नहीं होता .

**न्यायाधीश का कर्तव्य :–** न्यायाधीश के लिए यह सोचना उचित नहीं है कि विवाद्यकों की विरचना उसका काम नहीं है, अथवा यह कि केवल वे ही विवाद्यक बनाने की आवश्यकता है जिनके लिए पक्षकारों के वकील कहें . यद्यपि विवाद्यकों की विरचना के समय पक्षकारों की ओर से उपस्थित होने वाले अधिवक्ताओं की सहायता न्यायालय द्वारा सदैव ली जा सकती है ताकि यह सुनिश्चित हो सके कि प्रत्येक विवाद्यक बनाते समय सबूत का भार सही कन्धों पर डाला जाए; किन्तु यह कार्य पक्षकारों की इच्छा पर नहीं छोड़ा जा सकता, सिवाय उस दशा के जबकि वे किसी विवाद्यक पर जोर न देना चाहें या अपने अभिवचन के किसी भाग पर आग्रह न करना चाहें . कभी-कभी विवाद्यक के बाद कोष्ठकों में "वादी" या "प्रतिवादी" लिखकर यह प्रकट कर दिया जाता है कि सबूत का भार किस पर है . यदि विवाद्यकों की विरचना के समय सावधानी बरती जाए, तो आपको यह देखकर हर्ष-मिश्रित आश्चर्य होगा कि साक्ष्य लिखते

---

1. written statement.

समय आपका कार्य आधा रह गया है . आप ऐसा विसंगत साक्ष्य आसानी से छोड़ सकते हैं जो ऐसी बात पर हो जो अभिवचन में न कही गई हो या जिस पर विवाद न हो .

हम यह भी बता दें कि पक्षकार इस बात के लिए स्वतन्त्र होता है कि अपना कोई अभिवाक्[1] छोड़ दे . किन्तु ऐसा स्पष्ट तौर पर बयान लिखकर ही किया जाना चाहिए जिससे कि पक्षकार तत्पश्चात् यह न कह सके कि उसने वह अभिवाक् छोड़ा नहीं था, और उसे इस आपत्ति का अवसर न मिले कि विचारण न्यायालय ने एक उचित विवाद्यक बनाने से छोड़ दिया . यदि विवाद्यकों की विरचना पक्षकारों की सम्मति से की जाए तो उनके विनिश्चय पर आपत्ति इस आधार पर नहीं की जा सकती कि वह विवाद्यक त्रुटिपूर्ण या अनावश्यक था .

**अनुचित विवाद्यकों का तथा विवाद्यक न बनाने का प्रभाव :–** विचारण न्यायालय के अनुचित विवाद्यक बनाने अथवा मामले में उठने वाला विवाद्यक न बनाने के गंभीर परिणाम होते हैं . उसके फलस्वरूप अपील न्यायालय को मामला वापस करना पड़ सकता है . जब विवाद्यक बनाए तो गए हों किन्तु ठीक से न बनाए गए हों तो उससे पक्षकारों पर गंभीर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और उस आधार पर निर्णय भी रद्द हो सकता है . अतः यह ध्यान रखना महत्त्वपूर्ण है कि विवाद्यक बनाते समय न्यायाधीश आवश्यक मनोनियोग से काम करे . इस विषय में भी सतर्क रहना चाहिए कि जिस विवाद्यक की बात साबित करना जिस पक्षकार का कर्तव्य हो उस पर ही सबूत का भार डाला जाए .

**जहां विवाद्यक अनिवार्य नहीं :–** विवाद्यकों की विरचना के विषय में यह भी ध्यान रखना महत्त्वपूर्ण है कि जिन वादों तथा कार्यवाहियों में विवाद्यकों की विरचना करना अनिवार्य न हो उनमें भी

---

1. plea.

आप विवाद का उचित तौर पर निर्णय करने के लिए विवादकों की विरचना सुविधा की दृष्टि से कर सकते हैं. उदाहरणार्थ, लघुवाद या माध्यस्थम्[1] कार्यवाही में विवादकों की विरचना भले ही आवश्यक न हो, किन्तु वह सदैव उपयोगी होती है. निष्पादन कार्यवाही में भी प्रायः विवादकों की विरचना नहीं की जाती. किन्तु जहां आपत्तियां दाखिल की गई हों वहां यह हो सकता है कि विवादक बना दिए जाएं या कम से कम विवाद-बिन्दु निश्चित कर लिए जाएं। प्रकीर्ण[2] कार्यवाही में भी विवादकों की विरचना आवश्यक नहीं होती; किन्तु इनमें भी ऐसे अवसर आते हैं जब विचारार्थ प्रश्न निश्चित करना उपयोगी होता है. कुछ मामलों में प्रतिवादियों के बीच भी विवादक उत्पन्न हो सकते हैं. न्यायालय द्वारा ऐसे प्रश्नों पर भी विवादकों की विरचना पर कोई बन्धन नहीं है.

उद्बोधन :– अब हम आज के अपने मुख्य विषय से कुछ हट-कर चलते हैं. हम आज आपके हृदय में यह बात जमाना चाहते हैं कि न्यायपालिका की बिगड़ती हुई छवि को सुधारने का भार आपके ही कन्धों पर है और यह आपकी निष्ठा और आपकी अंतर्भूत ईमानदारी तथा निष्पक्षता पर निर्भर करता है. न्यायपालिका के अनेक पुराने सदस्यों की निःस्वार्थ सेवा से न्यायपालिका में जो आस्था अभी तक जमी हुई है उसे केवल कुछ लोगों के दोष के कारण नष्ट न होने देना चाहिए. अपनी छवि सुधारना आप पर निर्भर करता है. आपको यह अनुभव करना चाहिए कि आज भी न्यायपालिका भ्रष्टाचार के समुद्र में एक द्वीप की भांति है. भले ही उसका आकार कुछ घट गया हो, किन्तु फिर भी जनमानस में उसका बिम्ब अलग ही है. इन परिस्थितियों में आपका दायित्व कई गुना हो जाता है. हमें आशा है कि आप न्यायालय कक्ष के भीतर या बाहर कहीं भी अपने किसी भी कार्य से न्याय के आदर्श की उपेक्षा नहीं होने देंगे.

---

1. arbitration. 2. miscellaneous.

हम एक बार फिर आपको धन्यवाद देते हैं और हृदय से आपके आनन्दमय एवं संतुष्ट जीवन की कामना करते हैं ।

[उत्तर प्रदेश न्यायिक प्रशिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान में वार्ता से]

---

धर्मशास्त्रविचारेण मूलसारविवेचनम् ।
यत्राधिक्रियते स्थाने धर्माधिकरणं हि तत् ॥

– कात्यायन ॥

धर्माधिकरण अर्थात् न्यायालय उस स्थान को कहते हैं जहां विधि के अनुसार सारतत्त्व का पता लगाकर निर्णय किया जाए ।

---

नीतेः फलं धर्मार्थकामावाप्तिः ।
धर्मेणार्थकामौ परीक्ष्यौ ॥

– बार्हस्पत्यसूत्र 2–43,44 ॥

नीति का उद्देश्य धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति होता है । इनमें अर्थ और काम की प्राप्ति धर्म के अनुसार ही होनी चाहिए, अन्यथा नहीं ।

---

# सिविल वादों का शीघ्र निर्णय

न्यायमूर्ति श्री बाबन दास अग्रवाल
सेवानिवृत्त न्यायाधीश, इलाहाबाद उच्च न्यायालय

"न्याय करने में विलम्ब न्याय से वंचित करने के समतुल्य होता है." यह बहुप्रचलित उक्ति आपने सुनी होगी. विलम्ब से न्याय निष्फल हो जाता है. हाल के एक निर्णय **गोविन्द पोट्टी गोविन्दन नम्बूदिरी बनाम केशवन गोविन्दन पोट्टी** – (1987) 3 सु. को.के. 668 (672) में उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश (इलाहाबाद उच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश) न्यायमूर्ति श्री के. जगन्नाथ शेट्टी ने कहा :

> "न्यायालय को चाहिए कि विचारार्थ आने वाला कोई भी प्रश्न संदिग्ध अवस्था में न छोड़े. वादकारी न्यायालय के पास अपने मामले के निर्णय के लिए आते हैं, न कि न्यायाधीश की दुविधापूर्ण राय प्राप्त करने के लिए. अतः न्यायालय को अनिश्चय का शिकार नहीं होना चाहिए. आज की यही मांग है कि निर्णय करने में स्पष्टता और शीघ्रता हो."

दुर्भाग्यवश बहुप्रचलित धारणा यही है कि सिविल मामलों में हो सकता है कि अंतिम डिक्री पूरे जीवन पर्यन्त न मिल पाए और यदि सौभाग्यवश मिल भी गई तो उसका निष्पादन न हो पाए. कभी-कभी दोनों ओर से बहुत विलम्ब होता है. आपको ऐसे प्रतिवादी मिलेंगे जिनका मुकदमे में मुख्य प्रयत्न कार्यवाही को लम्बा करके जब तक हो सके दूसरे पक्षकार को तंग करने का होता है. इसे ही वे मुकदमे में अपनी जीत मानते हैं. आपको ऐसे वादी भी मिलेंगे जो तुच्छ और तंग करने वाले दावे लेकर न्यायालय आते हैं, जो मुख्यतः प्रतिवादी को परेशान करने के लिए होते हैं. विलम्ब के कारण अनेक होते हैं. आज हम उनके विवरण में नहीं जाते.

कहीं प्रक्रिया या नियमों में परिवर्तन की आवश्यकता हो सकती है; किन्तु जिस बात को मैं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानता हूं वह मानवीय तत्त्व की है. अन्ततोगत्वा न्यायाधीश का व्यक्तित्व और आदरणीयता ही महत्त्वपूर्ण होती है. मुझे विश्वास है कि अनुभव प्राप्त कर लेने पर आप स्वयं भी यह समझने लगेंगे.

सारी बात विचारों की स्पष्टता की है. इससे ही कार्य के गुण और मात्रा दोनों में वृद्धि होती है. विचारों की स्पष्टता अनुभव के साथ-साथ धीरे-धीरे आती है. सारतः वह कठिन श्रम से आती है. अधिकाधिक पढ़ने-लिखने से अपेक्षित मनःस्थिति प्राप्त हो जाती है. पढ़ना निर्णयज विधि तक सीमित नहीं होना चाहिए, यद्यपि वह बहुत महत्त्वपूर्ण है. सामान्य विषय भी पढ़े जाने चाहिए. इन सबसे आपको तीक्ष्ण सामान्य बोध[1] प्राप्त होगा, जो सभी निर्णयों के मूल में होता है. अपने समक्ष के कार्य में एकचित्त होकर लगने से ही आपको बहुत सी उपलब्धि हो जाएगी. यदि आप अपने कर्तव्यों के प्रति सजग होंगे और वकीलों में भी यही धारणा उत्पन्न करेंगे तो निश्चिन्त रहें, वे हर अवसर पर आपसे पूर्ण सहयोग करेंगे और तब आपको अपना कार्य निश्चय ही रुचिकर लगेगा.

जिलों में जाकर जब आप काम करेंगे तो आप पाएंगे कि उच्च न्यायालय द्वारा विहित कोटे के विरुद्ध बहुत कुछ कहा जाता है. कहने वालों में आपके साथी भी होते हैं. कोटे का आतंक व्यर्थ है. उससे कभी भयभीत न हों. कोटा समय-समय पर उदार होता गया है. उसे और भी युक्तिसंगत बनाया जा सकता है. यदि आप नियमित रूप से काम करने की आदत बना लेंगे तो आप पाएंगे कि कोटा अपने आप पूरा हो जाता है. आप उससे त्रस्त न हों और कोटा पूरा करने की धुन में कार्य का स्तर न गिराएं. उससे आपको कुछ भी श्रेय नहीं मिलेगा, न वादकारियों की ओर से और न उच्च न्यायालय द्वारा. इस अवसर पर हम आपको एक बात और समझा दें कि

---

1. common sense.

आप प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से गलत तरीके अपनाकर अपने काम को बढ़ाकर न दिखाएं. बहुधा लोग अपना काम अधिक दिखाने के लिए इस बात पर उतर आते हैं कि समझौते द्वारा निर्णीत मामले तथा एकतरफा निर्णीत मामले भी शामिल कर लेते हैं अथवा केवल खर्चे पर विवाद दिखा देते हैं. आपको यह कार्य-प्रणाली नहीं अपनानी चाहिए. अपरिहार्य दशाओं में आपका कार्य कोटे से कम भी हो सकता है. किन्तु उसे अवांछनीय साधनों द्वारा बढ़ाकर दिखाने का प्रयत्न न करें. अधिक काम करने वाले अधिकारियों की भी उनके कुछ साथी ही यह कह कर आलोचना करते हैं कि उससे न उनकी शीघ्र तरक्की हो जाएगी और न उन्हें कोई सम्मान मिल जाएगा. यह भी एक गलत धारणा है. कार्य स्वयं में उपासना है. अपेक्षानुसार कर्तव्यपालन स्वतः संतोष का विषय होता है. कार्य करने वाले व्यक्ति का अन्त में सम्मान होगा ही, भले ही तुरन्त न हो.

मेरे पास ऐसा कोई निश्चित सूत्र नहीं है जिसे इस संदर्भ में आप सर्वत्र अपना सकें. प्रत्येक मामले और स्थान की भिन्नता के साथ परिस्थितियां भी भिन्न हो सकती हैं. फिर भी अनुभव के आधार पर मैं कुछ बातें कहूंगा जो आपके लिए उपयोगी हो सकती है.

पदभार ग्रहण करने पर आप पाएंगे कि बहुत से सिविल मामले ऐसे हैं जिन पर आपको ध्यान देने की आवश्यकता है. यह वांछनीय होगा कि आप अपने रजिस्टरों की प्रविष्टियों से फाइलों का मिलान करा लें. ऐसा करना कर्मचारियों पर प्रभावी प्रशासनिक नियंत्रण रखने में भी आपका सहायक होगा. मिलान कराने के बाद आप विचाराधीन मामलों को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित कर सकते हैं: एक पुराने मामले और दूसरे, नए. विचाराधीनता की प्रकृति के अनुसार विभाजन-रेखा निश्चित की जा सकती है. तीसरा वर्ग उन मामलों का हो सकता है जो आपको अन्य न्यायालयों से स्थानान्तरित होकर मिलते रहते हैं. हमारा तो सुझाव यह है कि आप पुराने मामलों की सूची या तो स्वयं बना लें या अपनी देख-रेख में बनवा लें. प्रत्येक मामले के सामने उसकी विशेष बातों का उल्लेख

कर दें, अथवा यह नोट कर लें कि किन कारणों से वह इतना पुराना हुआ . उससे वस्तुस्थिति बराबर आपकी नजर में रहेगी तथा मुकदमा लगाते समय आप पुराने मुकदमों की ओर विशेष ध्यान देकर उन्हें प्राथमिकता[1] दे सकेंगे और उन कारणों को दूर कर सकेंगे जिनसे कि वे लटके रहे .

उच्च न्यायालय द्वारा जारी की गई सामान्य नियमावली[2] तथा तथा परिपत्रों के अनुसार आप अपनी केस डायरी स्वयं लिखें . यह अनुभव से भी उपयोगी पाया गया है . इसका भाव यही है कि आपका विचाराधीन मामलों पर बेहतर नियंत्रण रहे . प्रत्येक दिन उचित से अधिक मुकदमे न लगाएं . जहां तक हो सके प्रयत्न करें कि मुकदमे समयाभाव के कारण मुल्तवी न हों . इससे आपको प्राथमिकता के पात्र मामलों को प्राथमिकता देने में सहायता मिलेगी, और निचले स्तर पर भ्रष्टाचार भी कुछ सीमा तक दूर होगा . आपका प्रयत्न यह भी होना चाहिए कि मुकदमे बिना तारीख के न रहें . मुकदमों में केवल तारीख लगाने के लिए कोई तारीख लगा देना अच्छी बात नहीं है . निर्णयों की गति बढ़ाने के लिए आप स्वयं तारीखें लगाएं और यह कार्य कार्यालय पर न छोड़ें .

समन या अन्य आदेशिकाओं की पक्षकारों पर तामील में विलम्ब मुकदमे पुराने होने का एक सबल कारण है . नियमानुसार आप आदेश दे सकते हैं कि चपरासी द्वारा सामान्य तामील के साथ-साथ रजिस्ट्री डाक द्वारा भी तामील की जाए . महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मुकदमे में लगाई गई तारीख बहुत लम्बी न हो . आप इस विषय में कार्यालय के मार्गदर्शन के लिए कुछ सिद्धान्त बना दें और समय-समय पर या आकस्मिक निरीक्षण करके देखें कि उनका पालन हो रहा है . आप देखेंगे कि कार्यालय इस विषय में अकसर लापरवाह रहता है; किन्तु आप पैरवी करने के लिए या आदेशिका की वापसी के लिए बहुत लम्बी तारीख नहीं दे सकते . समग्र रूप से देखें तो इस प्रकार

1. priority.

2. General Rules.

से बहुत विलम्ब हो जाता है . इस बात को भी देखते रहें कि चपरासी कितने प्रतिशत तामील करता है; तथा जैसे ही प्रतिस्थापित तामील[1] की स्थिति आए वह तुरन्त करा दी जानी चाहिए .

आप पाएंगे कि एक पक्षकार की मृत्यु हो जाने पर उसके विधिक प्रतिनिधियों को पक्षकार बनाने में भी विलम्ब हो जाता है . कानून में 90 दिन के परिसीमाकाल[2] का विधान है . उसका पालन किया ही जाना चाहिए . लेकिन आप नजर रखें और यदि संबंधित पक्षकार उचित पैरवी न करे तो आप कारण-बताओ नोटिस दे दें . उच्चतम न्यायालय का कथन है कि इन मामलों में विलम्ब के लिए परिसीमा अधिनियम की धारा 5 के अधीन माफी देने में तथा उपशमन[3] रद्द करने के मामले में आपको उदार होना चाहिए . ऐसा हो हो; किन्तु अपनी ओर से तो विलम्ब न करें .

कभी-कभी आप पाएंगे कि कोई पक्षकार आपके समक्ष की कार्यवाही इस आधार पर रुकवाना चाहता है कि उन्हीं पक्षकारों के बीच कोई अन्य मुकदमा पहले से चल रहा है . आपको सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 10 का अध्ययन करके उसके उपबन्ध सतर्कता से लागू करने चाहिए . उस धारा का उपयोग आप तब तक न करें जब तक उसकी आवश्यक शर्तें पूरी न हो जाएं . निस्संदेह संहिता की धारा 151 का आश्रय लेकर भी मुकदमा स्थगित किया जा सकता है . किन्तु ऐसा विरले मामलों में ही किया जाना चाहिए .

ऐसा मुकदमा हो सकता है जिसके आदेशपत्र में लिखा हो कि यह मुकदमा पहले की गई अपील या पुनरीक्षण में उच्चतर न्यायालय द्वारा आदेश के कारण रोक दिया गया है . कभी-कभी ऐसा होता है कि उच्चतर न्यायालय का आदेश समाप्त हो जाने पर भी मुकदमा रुका रहता है . उच्च न्यायालय तथा अन्य उच्चतर न्यायालय के कर्मचारियों के आलस्य के कारण भी ऐसा होता है . आप इस सम्बंध में सतर्क रहें . आप संबंधित जिला न्यायालय को अर्द्धशासकीय पत्र

---

1. substituted service. 2. limitation. 3. abatement.

लिख दें. और यदि मामला उच्च न्यायालय में हो तो आप अपने जिला न्यायाधीश से अनुरोध करें कि वह उच्च न्यायालय से उचित पत्र-व्यवहार करें.

जिन मामलों में आपने निर्णय सुना दिया है उनकी डिक्रियां यथाशीघ्र तैयार किए जाने पर भी दृष्टि रखें।

आप देखेंगे कि पक्षकार लिखित कथन दाखिल करने के लिए तारीखें लेते हैं. प्रवृत्ति मामले को खींचते रहने की होती है. इस पर नजर रखें. तारीख दें, किन्तु उचित तौर पर ही. उस पर पूरी नजर रखें और और उचित हर्जाना[1] आदि की शर्तें लगाते रहें।

विवाद्यकों[2] की विरचना आप स्वयं करें. कुछ स्थानों पर चलन यह है कि किसी पक्षकार द्वारा तैयार किए गए विवाद्यक ही अपना लिए जाते हैं. ऐसा नहीं करना चाहिए. यदि आप स्वयं विवाद्यक बनाएंगे तो आपको भान रहेगा कि सबूत का भार किस पक्षकार पर है और आप ऐसे बहुत से विवाद बिन्दुओं को उसी स्तर पर समाप्त कर सकते हैं जो विसंगत या महत्त्वहीन हों. इसके लिए आप पक्षकार या उसके अधिवक्ता से अभिवचनों[3] के स्पष्टीकरण के लिए बयान देने का आग्रह कर सकते हैं.

सिविल वाद अंतिम सुनवाई के लिए आने पर आप देखेंगे कि कोई न कोई पक्षकार तारीख बढ़वाना चाहता है. सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 17 का नियम 1 व्यावहारिक दृष्टि से बहुत उपयोगी साबित नहीं हुआ है. आवश्यकता इस बात की है कि आप व्यवहार-कुशल दृष्टिकोण अपनाएं. आपको चाहिए कि आप अधिवक्ताओं तथा वादकारियों में एक सामान्य धारणा बना दें कि आपके यहां तारीख मांगने मात्र से ही नहीं मिल जाएगी, उसके लिए उचित आधार भी दिखाना होगा. आपको यह विश्वास भी जमाना होगा कि यदि उचित आधार हो तो आपके यहां न्याय की उपेक्षा नहीं

---

1. costs (to compensate the other party.)
2. issues.
3. pleadings.

होगी . जब भी तारीख देना आवश्यक हो तो कम से कम समय की तारीख दें, विशेषत: उन मामलों में जो पुराने हो रहे हों .

हो सकता है कि किसी तारीख को किसी ओर के सभी साक्षी उपस्थित न हों; किन्तु उसका यह मतलब नहीं है कि जो उपस्थित हों उनके भी बयान न लिखे जाएं . आपको इस बात पर आग्रह करना चाहिए कि सामान्यत: पक्षकार अपने साक्षियों के लिए दस्ती समन लें और उन्हें न्यायालय के माध्यम से तलब न कराएं क्योंकि उसमें सदैव अधिक समय लग जाता है .

आप कोटा बढ़ाने के लिए यह प्रवृत्ति न अपनाएं कि कठिन मामलों को मुल्तवी कर दें और बाद के मुकदमों को पहले ले लें . यह प्रवृत्ति तो अधिवक्तागण भी पसन्द नहीं करते . जैसा कि मैंने आपको बताया, आपको यह धारणा जमानी चाहिए कि आप काम से भागते नहीं हैं तथा काम करना चाहते हैं . उस दशा में व्यस्त से व्यस्त अधिवक्ता भी आपके यहां तारीख मांगने में संकोच करेंगे .

आपको यह प्रवृत्ति भी व्यक्त नहीं करनी चाहिए कि बिना बात ही मुकदमे को अनुपस्थिति के आधार पर खारिज कर दें अथवा एकतरफा निर्णय कर दें . ऐसा करने से बिलम्ब ही होता है, न कि न्याय . ऐसे आदेशों को रद्द करने में या तारीखें देने में आपको व्यावहारिकता और विवेक से काम लेना होगा . आपको अतितकनीकी या शास्त्रीय[1] दृष्टिकोण अपनाने की बजाय भाव की ओर ध्यान देना होगा .

प्रयत्न यह होना चाहिए कि आप साक्ष्य स्वयं लिखें . उससे बिसंगत[2] बातें छोड़ने में सहायता मिलेगी . साक्ष्य विषयक नियम आपको कण्ठस्थ होने चाहिए . जब कभी किसी प्रश्न पर आपत्ति की जाए तो आपको चाहिए कि उस पर एक संक्षिप्त आदेश द्वारा तुरन्त निर्णय दे दें और उसे निर्णय लिखते समय निपटाने के लिए मुल्तवी न करें . ऐसा भी नहीं होना चाहिए कि एक मामले की सुनवाई तो

1. academic. 2. irrelevant.

आप कर रहे हों और आपका कोई कर्मचारी दूसरे मुकदमे में बयान लिखता रहे .

न्यायालय के समय में आपको निर्णय लिखने के लिए प्रायः अधिक समय नहीं मिलेगा . अधिकांशतः निर्णय घर पर ही लिखने होंगे . इस अवसर पर घर पर काम करना और अपने हाथ से निर्णय लिखना बहुत उपयोगी होता है . उससे प्रमितता[1] आ जाती है और विपर्यस्तता[2] दूर रहती है . आपको नियमित रूप से काम करना चाहिए . उससे आपको बहस के दौरान पक्षकारों की ओर से कही गई विभिन्न बातें स्मरण रहेंगी और आप उनकी उचित चर्चा कर सकेंगे . निर्णय लिखना प्रारम्भ करने के पहले संपूर्ण अभिलेख का स्वयं अध्ययन कर लें . प्रारम्भ दस्तावेजी साक्ष्य से करें . विभिन्न प्रदर्शों[3] की संक्षिप्त टिप्पणी बना लें और फिर मौखिक साक्ष्य की मुख्य बातें नोट कर लें . निर्णय लिखने के पहले उसकी रूपरेखा तैयार कर लें . आपका निर्णय निबन्ध की भांति प्रवाहपूर्ण होना चाहिए . बड़े मुकदमों में भी निर्णय लिखने के लिए अतिरिक्त समय की मांग करना उचित नहीं है और वह पसन्द भी नहीं किया जाता .

अनुभव से आप इस बात में समर्थ हो जाएंगे कि अनुपयोगी बातों से उपयोगी बातें अलग कर सकें . किसी मामले की विभिन्न संभावनाओं में से सर्वाधिक अधिसंभाव्य[4] बात आप चुन सकेंगे . आपको न्यायिक और प्रशासनिक दोनों ही क्षेत्रों में बराबर सतर्कता-पूर्वक अभ्यास करना चाहिए . कर्तव्यनिष्ठा को आप अपरिहार्य समझें . यदि आप अपना कार्य रुचिपूर्वक करेंगे तो आपके स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव नहीं पड़ेगा और मुकदमों में, विशेषतः सिविल मुकदमों में, जो विविधता होती है उसका आप वास्तविक आनन्द ले सकेंगे .

—[उत्तर प्रदेश न्यायिक प्रशिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान में वार्ता से]

---

1. precision.
2. perversity.
3. exhibits.
4. probable.

# सिविल न्यायालय की अंतर्निहित[1] शक्तियां

—न्यायमूर्ति श्री बृजेश कुमार
न्यायाधीश, इलाहाबाद उच्च न्यायालय

सिविल न्यायालयों को सिविल प्रकृति के वादों का निर्णय करने की अधिकारिता है. यह अधिकारिता उन्हें विधि के उपबन्धों से प्राप्त होती है. बहुत सी अधिनियमितियां[2] ऐसी हैं जो व्यक्ति के सिविल न्यायालयों के माध्यम से प्रवर्तनीय[3] मूलभूत अधिकारों की व्यवस्था करती हैं. सिविल प्रक्रिया संहिता में प्रक्रिया के सूक्ष्म विवरण दिए गए हैं, जिनमें विचारण या कार्यवाही का प्रत्येक प्रक्रम आ जाता है. कुछ उपबन्ध मूल प्रकृति के भी हैं. फिर भी कार्यवाही के दौरान ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है जिसके लिए कोई उपबन्ध न मिले. उस स्थिति से निपटने के लिए न्यायालय को आदेश तो करना ही होगा. आदेश के अभाव में विधिक कार्यवाही का दुरुपयोग या अन्याय हो सकता है. ऐसी स्थिति में आदेश करते समय न्यायालय अपनी अंतर्निहित शक्ति का प्रयोग करता है. सिविल न्यायालय की इस अंतर्निहित शक्ति का संरक्षण सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 151 में स्पष्ट शब्दों में किया गया है. वह धारा इस प्रकार है :

> "151. इस संहिता की किसी भी बात के बारे में यह नहीं समझा जाएगा कि वह ऐसे आदेशों के देने की न्यायालय की अंतर्निहित शक्ति को परिसीमित या अन्यथा प्रभावित करती है, जो न्याय के उद्देश्यों के लिए या न्यायालय की आदेशिका के दुरुपयोग का निवारण करने के लिए आवश्यक है."

---

1. inherent.
2. enactments.
3. enforceable.

"अंतर्निहित शक्ति" पद के ही प्रयोग से यह व्यक्त हो जाता है कि न्यायालय को सिविल मामलों के निर्णय की जो अधिकारिता प्रदान की गई है उसी के आधार पर यह शक्ति निहित होती है . धारा 151 सिविल प्रक्रिया संहिता पढ़ने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इस उपबन्ध ने अंतर्निहित शक्तियां प्रदान नहीं की हैं, बल्कि विद्यमान शक्तियों का संरक्षण किया है . अंतर्निहित शक्तियां सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 151 से स्वतंत्र रूप से विद्यमान हैं . यह उपबन्ध बहुत स्पष्ट कर देता है कि वे शक्तियां अप्रभावित रहेंगी . अंतर्निहित शक्ति सिविल न्यायालय द्वारा प्रयुक्त अधिकारिता का अनिवार्य अंग है . यह न्यायालय द्वारा अपनी अधिकारिता के प्रभावी प्रयोग के लिए आवश्यक है .

एक मामले[1] में कहा गया है कि सामान्य अधिकारिता वाले न्यायालय को अंतर्निहित शक्ति मुकदमों की अनुषंगी बातों के लिए, न्यायालय की प्रक्रिया पर नियंत्रण के लिए, उसके अधिकारियों के आचरण पर नियंत्रण के लिए, तथा न्यायालय की कार्यवाही में व्यवस्था और शिष्टता बनाए रखने के लिए होती है . एक अन्य अमरीकी निर्णय[2] में कहा गया है :

> "न्यायालय की अंतर्निहित शक्तियां उसकी व्यवस्था के लिए नैसर्गिक हैं और उस व्यवस्था के अस्तित्व और संरक्षण तथा सम्यक् न्याय-प्रशासन के लिए आवश्यक हैं . न्यायालय की अंतर्निहित शक्ति ऐसी सब बातों को करने की शक्ति है जो न्यायालय की अधिकारिता के अंतर्गत न्याय-प्रशासन के लिए उचित तौर पर आवश्यक हैं ."

इस प्रकार अंतर्निहित शक्तियां न्यायालय के अस्तित्व और उसकी गरिमा बनाए रखने के लिए आवश्यक मानी गई हैं ."

इस संदर्भ में हमारे उच्चतम न्यायालय द्वारा कुछ मामलों में

---

1. फ्लोरिडा स्टेट बार एसोसिएशन की अर्जी – 60 एस.ओ. सेकेण्ड 646, 647.
2. पैटरसन बनाम पोलक - 84, एल.ई., 24 606, 611, 84 ओहियो अपी. 489.

की गई उक्तियों का उल्लेख उपयोगी होगा. **मैसर्स जयपुर मिनरल डेवलपमेण्ट सिण्डीकेट, जयपुर बनाम आय कर आयुक्त, नई दिल्ली** – ए.आई.आर. 1977 सु.को. 1348 [(1978) 1 उम.नि.प. 490] में कहा गया है कि अभिव्यक्त अथवा विवक्षित[1] प्रतिषेध के अभाव में न्यायालय को शक्ति प्राप्त होती है कि ऐसा आदेश करे जो न्याय के उद्देश्य के लिए या न्यायालय की कार्यवाही के दुरुपयोग को रोकने के लिए आवश्यक हो. इस उक्ति से यह स्पष्ट है कि न्याय के उद्देश्य के लिए आदेश किए जा सकते है. शर्त यही है कि उस विषय में कोई अभिव्यक्त या विवक्षित[1] प्रतिषेध न हो. इस प्रकार अंतर्निहित शक्ति की व्याप्ति बहुत अधिक है. **नवाबगंज शुगर मिल्स कंपनी लि. बनाम भारत संघ तथा अन्य** – ए.आई.आर. 1976 सु.को.1152 [(1976) 2 उम.नि.प. 657] में माननीय उच्चतम न्यायालय ने नेशनल कालेज आफ दि स्टेट ज्यूडीशियरी, यू.एस.ए. के प्रकाशन "थ्योरेटिकल बेसिस आफ इनहेरेण्ट पावर्स डाक्ट्रिन" (जिम आर. कारिगन) की कुछ पंक्तियां उद्धृत कीं :-

> "अंतर्निहित शक्ति का मूल उसकी आवश्यकता में है और उसकी व्यापकता आवश्यकता के अनुसार होती है."

इस प्रकार अंतर्निहित शक्ति की व्याप्ति न्याय के उद्देश्यों की पूर्ति की आवश्यकता पर निर्भर करती है. कभी-कभी वह बहुत व्यापक हो सकती है. प्रत्येक न्यायालय विधि के अनुसार न्याय करने के लिए स्थापित किया जाता है और उसकी स्थापना में ही यह अंतर्निहित माना जाना चाहिए कि उसे ऐसी सभी शक्तियां प्राप्त हैं जो न्याय-प्रशासन के दौरान सही बात करने के लिए और गलत बात को काटने के लिए आवश्यक हों.

अंतर्निहित शक्तियां विधि द्वारा उस सीमा तक ले ली गई मानी जाती हैं जहां तक कि कानून में उनका स्पष्ट प्रतिषेध हो. किन्तु विधान-मण्डल नैसर्गिक और साधारण घटनाओं की ही पूर्व-

---

1. express or implied.

कल्पना कर सकता है . कोई भी नियम अनन्त काल के लिए ऐसा विधान नहीं बना सकता कि उसमें विविध प्रकार की असंख्य असुविधाओं के लिए स्पष्ट व्यवस्था हो . जहां भी कमी मिलती है वहां उसकी पूर्ति अंतर्निहित शक्ति के प्रयोग द्वारा की जाती है जिससे कि न्याय के उद्देश्य की पूर्ति हो . अंतर्निहित शक्ति की सीमाएं जानने के लिए **अर्जुन सिंह बनाम महिन्दर कुमार** – ए.आई आर. 1964 सु.को.993 का उल्लेख करना उपयोगी होगा . उसमें कहा गया : "यह सर्वमान्य है कि न्यायालय की अंतर्निहित शक्ति विधि के स्पष्ट उपबन्ध का अतिक्रमण नहीं कर सकती . दूसरे शब्दों में, यदि संहिता में किसी विशिष्ट विषय में कोई स्पष्ट उपबन्ध है और उससे उस विषय में न्यायालय द्वारा उपयोग की जाने वाली अधिकारिता की व्याप्ति अभिव्यक्त रूप से या अनिवार्य विवक्षा द्वारा समाप्त हो जाए तो न्यायालय की अंतर्निहित शक्ति का आश्रय संहिता द्वारा प्रदत्त शक्तियों का अतिक्रमण करने के लिए नहीं किया जा सकता . यह आवश्यक नहीं है कि संहिता में किया गया प्रतिषेध स्पष्ट शब्दों में हो . वह विवक्षित भी हो सकता है; या वह उन उपबन्धों से विवक्षित हो सकता है जो वह तत्संबंधी स्थिति के विषय में बनाए . इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अन्तर्निहित शक्ति का प्रयोग करके किया गया आदेश न तो विधि के अभिव्यक्त उपबन्ध के विरुद्ध हो सकता है और न विधि द्वारा अभिव्यक्त या विवक्षित रूप से किए गए प्रतिषेध का उल्लंघनकारी हो सकता है . अंतर्निहित शक्तियों के प्रयोग का क्षेत्र अभिव्यक्त उपबन्धों के बीच का होता है जिसके अंतर्गत आने वाली बातों के लिए विधि में व्यवस्था न हो . **पद्मसेन बनाम उत्तर प्रदेश राज्य** – ए.आई.आर. 1961 सु.को. 218 में माननीय उच्चतम न्यायालय ने कहा है :

> "न्यायालय की अंतर्निहित शक्तियां वे हैं जो कि न्यायालय को संहिता द्वारा स्पष्टतः प्रदत्त शक्तियों के अतिरिक्त हों . वे इन शक्तियों की अनुपूरक हैं . अतः यह निष्कर्ष निकाला जाना चाहिए कि न्यायालय उनका उपयोग संहिता

की धारा 151 में वर्णित प्रयोजनार्थ उस दशा में कर सकता है जबकि उस शक्ति का प्रयोग संहिता के स्पष्ट उपबन्धों का किसी प्रकार से विरोधी न हो और न विधान-मण्डल के आशय का विरोधी हो ."

यह स्मरणीय है कि केवल साम्या[1] के आधार पर यह अनुमत नहीं होगा कि अंतर्निहित शक्ति का तात्पर्यित[2] प्रयोग करके कोई ऐसा आदेश किया जाए जो विधि के उपबन्ध के प्रतिकूल हो . अभिव्यक्त उपबन्ध के विरुद्ध साम्या अभिभावी नहीं हो सकती . विधि के उपबन्ध को प्रभावी करना ही होगा, परिणाम कुछ भी हो . अर्जुन सिंह वाले उपर्युक्त मामले में अपनाए गए सिद्धान्तों का अनुसरण उच्चतम न्यायालय ने **राम चन्द सन्स शुगर मिल्स बनाम कन्हैया लाल** – ए.आई.आर. 1966 सु.को. 1899 वाले दूसरे निर्णय में किया .

जैसा कि पहिले बताया गया, धारा 151 न्यायालय को कोई नई अधिकारिता प्रदान नहीं करती . वह केवल उस अंतर्निहित शक्ति का संरक्षण करती है जिसका प्रयोग न्यायालय विशिष्ट परिस्थितियों में कर सकता है . अतः न्यायालय के समक्ष उसकी अधिकारिता के भीतर की कोई ऐसी कार्यवाही विचाराधीन होनी चाहिए जिसके सम्बन्ध में अंतर्निहित शक्ति का प्रयोग आवश्यकतानुसार किया जा सके . न्यायालय के समक्ष कोई कार्यवाही विचाराधीन न होने पर अंतर्निहित शक्ति के प्रयोग के लिए कोई स्वतंत्र आवेदन नहीं दिया जा सकता . अंतर्निहित शक्ति न्यायालय में पहले से निहित उन शक्तियों की अनुपूरक होती है जो सिविल अधिकारिता के प्रयोग के कारण उसे प्राप्त हैं . माननीय उच्चतम न्यायालय द्वारा **राजा सोप फैक्ट्री बनाम एस. पी. सन्त राजा** – ए.आई.आर. 1965 सु.को. 1449 में व्यक्त किए गए विचारों का उद्धरण उपयोगी होगा :

"सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 151 न्यायालय की उस अंतर्निहित शक्ति का संरक्षण करती है जो न्याय के

---

1. equity. 2. purported.

उद्देश्यों के लिए या न्यायालय की आदेशिका का दुरुपयोग रोकने के लिए आवश्यक हो. उस शक्ति का प्रयोग तभी किया जा सकता है जबकि उच्च न्यायालय के समक्ष कोई कार्यवाही विधिपूर्वक हो. उससे उच्च न्यायालय को यह प्राधिकार नहीं मिलता कि ऐसी अधिकारिता अपने में निहित करे जो उसे विधि द्वारा प्रदान नहीं की गई है."

उपर्युक्त उद्धरण से भी यह स्पष्ट है कि यदि सिविल न्यायालय को उस विवाद का संज्ञान करने की अधिकारिता न हो, या यदि उसके समक्ष कोई कार्यवाही विचाराधीन न हो, तो वह अपनी अंतर्निहित शक्ति का प्रयोग करके कोई आदेश केवल इस आधार पर नहीं कर सकता कि यह आदेश किसी असाधारण स्थिति के कारण अपेक्षित है. सिविल न्यायालय अपने में ऐसी अधिकारिता नहीं मान सकता जो उसे अन्यथा प्रदत्त न हो. अंतर्निहित शक्तियों का प्रयोग उस कार्यवाही की सहायता के लिए किया जाता है जो उसकी विधिक अधिकारिता के अंतर्गत उसके विचाराधीन हो.

ध्यान देने योग्य एक अन्य बात यह है कि यदि किए गए सदोष कार्य के विरुद्ध अन्य उपचार उपलब्ध हो तो अंतर्निहित शक्ति का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए. यह स्पष्ट है कि जब कानून में उपचार के लिए स्पष्ट व्यवस्था है तो अंतर्निहित शक्ति के प्रयोग का प्रश्न नहीं उठता, और न उठना ही चाहिए, क्योंकि ऐसे मामले में सक्षम न्यायालय उस दोषपूर्ण कार्य के विरुद्ध अनुतोष विधि के अनुसार ही प्रदान कर सकता है; वह ऐसा विधि के उपबंधों के अधीन कर सकता है.

यह प्रस्थापना एक सामान्य नियम के रूप में है. किन्तु कुछ ऐसी आपवादिक[1] परिस्थितियां हो सकती हैं जिनमें अनुकल्पी[2] उपचार उपलब्ध होने की दशा में भी अंतर्निहित शक्ति का प्रयोग किया जा सके.

---

1. exceptional. 2. alternative.

यह स्वतःपूर्ण परिभाषा के रूप में लिपिबद्ध करना सम्भव नहीं है कि कौन-कौन से कार्य न्यायालय की आदेशिका या कार्यवाही का दुरुपयोग माने जाएंगे . वह तो मामले के विशिष्ट तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर होगा . कभी मामला स्वयं न्यायालय द्वारा सद्भावपूर्वक की गई गलती या चूक का भी हो सकता है . न्यायालय की आदेशिका या कार्यवाही के दुरुपयोग का परिणाम रखने वाली गलतियों का सुधार अंतर्निहित शक्ति का प्रयोग करके किया जा सकता है . पक्षकार विधिक कार्यवाही का दुरुपयोग करने के दोषी तब भी हो सकते हैं जब वे कोई आदेश प्राप्त करने के लिए जानबूझ कर न्यायालय को धोखा दें . धोखे का पता लगने पर न्यायालय उपयुक्त आदेश कर सकता है . इसी प्रकार पक्षकार कोई आदेश प्राप्त करने के लिए मिली-भगत कर सकते हैं . यह भी न्यायालय की कार्यवाही के दुरुपयोग का स्पष्ट उदाहरण होगा तथा इसके लिए भी अंतर्निहित शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है .

यद्यपि अंतर्निहित शक्ति बहुत व्यापक होती है, किन्तु उसका प्रयोग सतर्कता और सावधानी से किया जाना चाहिए; केवल उन परिस्थितियों में किया जाना चाहिए जबकि दृष्टिकोण न्याय के उद्देश्यों को अग्रसर करने का हो . यह भी स्मरणीय है कि ऐसा आदेश करने का कोई अभिव्यक्त या विवक्षित प्रतिषेध नहीं होना चाहिए; और यह भी देखना होगा कि स्थिति का सामना करने के लिए कोई अन्य उपबन्ध उपलब्ध नहीं है .

– [उत्तर प्रदेश न्यायिक प्रशिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान में वार्ता से]

# निर्णयों, आदि में हिन्दी भाषा का प्रयोग

– डा. मोती बाबू
सेवानिवृत्त जिला न्यायाधीश

शिवम् और सुन्दरम् का चिर संबंध है. भाव-सौन्दर्य के साथ भाषा-सौन्दर्य की भी आकांक्षा होती है. इसलिए न्यायिक अधिकारी से जहां यह आशा की जाती है कि वह न्यायपूर्ण निर्णय दे वहीं यह भी आशा की जाती है कि वह उचित भाषा का प्रयोग करे. निर्णय चाहे अंग्रेजी में हो या हिन्दी में, उसकी भाषा सही और स्वाभाविक होनी चाहिए. निर्णय में भाषा की त्रुटियां जहां न्यायाधीश को उपहास का विषय बना देती है वहीं वे कभी-कभी अर्थ का अनर्थ करके नए विवाद को जन्म देती है. अच्छी भाषा में लिखा गया निर्णय सभी को अच्छा लगता है. अतः इस ओर भी विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है. यहां बात हिन्दी भाषा के प्रयोग की है.

**शब्दावली :**

पहला प्रश्न शब्दावली का उठता है, कि किन शब्दों का प्रयोग किया जाए. विधि-क्षेत्रीय हिन्दी की शब्दावली के व्यवहार में एक-रूपता और निश्चितता अभी तक नहीं आ पाई है. स्थानीय चलन और न्यायाधीश के ज्ञान एवं रुचि के अनुसार शब्दावली में भी अंतर आ जाता है. बहुधा यह वांछनीय नहीं होता. शब्दावली की निश्चितता और एकरूपता अर्थ प्रकट करने में और सही अर्थ समझने में विशेष सहायक होती है.

निर्णयों में प्रयुक्त शब्दों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है :

(i) पारिभाषिक व तकनीकी शब्द;

(ii) अन्य शब्द.

प्रथम वर्ग को तीन भागों में बांटा जा सकता है :

क. परिभाषित शब्द, अर्थात् वे शब्द जिनकी परिभाषा

कानून में दी गई है;

ख . वे शब्द जो विशिष्टत: विधि-क्षेत्र में प्रयुक्त होते हैं और उसी क्षेत्र के माने जाते हैं, जैसे– अधिनियम, अध्यादेश, विवाद्यक[1], वादपत्र[2], आदि; तथा

ग . सामान्य शब्द जिनका विधि-क्षेत्र में आकर विशिष्ट अर्थ हो जाता है, जैसे– अंग्रेजी के "action" (अनुयोग) और "limitation" (परिसीमा) आदि .

जहां तक परिभाषित शब्दों का संबंध है, परिभाषा में दिए गए भाव का प्रकट करने के लिए उसी शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए . निर्वचन[3] का यह सामान्य सिद्धान्त है कि परिभाषित शब्द सामान्यत: परिभाषित अर्थ में ही समझा जाना चाहिए और यदि भिन्न शब्द का प्रयोग हो तो उसका परिभाषित से भिन्न अर्थ समझा जाना चाहिए . इनमें वे शब्द तो आएंगे ही जिनकी परिभाषा दी गई है; अपितु वे भी आएंगे जो परिभाषित तुल्य हैं, जैसे– अधिनियमों, पदों और निकायों, आदि के नाम . इस विषय में सावधानी बरती जानी चाहिए कि संबंधित कानून के हिन्दी पाठ में जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है उन्हीं का प्रयोग किया जाए .

जहां तक भाग-ख और भाग-ग में आने वाले शब्दों का संबंध है, अब वह स्थिति गुजर गई है जब हिन्दी के तकनीकी शब्द निश्चित होने थे . शब्द प्राय: निश्चित हो चुके हैं . यह बात दूसरी है कि उनका यथेष्ट ज्ञान प्राप्त न किया गया हो . इस अज्ञान का मुख्य कारण यह है कि बहुधा कानूनों के प्रामाणिक हिन्दी पाठ सरलता से नहीं मिलते, और जब उपलब्ध भी हों तब उन पाठों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता . हिन्दी में काम करने वाले भी बहुधा अपना कार्य अंग्रेजी पाठों के आश्रय से करते हैं . तकनीकी शब्दों के विषय में एक सामान्य सिद्धान्त यह है कि जिस शब्द का प्रयोग संबंधित कानून में– अर्थात् अधिनियम, अध्यादेश, नियम, विनियम, आदि

---

1. issues. 2. plaint. 3. interpretation.

में– हुआ हो यथासंभव उसी का प्रयोग निर्णय में किया जाए . तभी हमारा निर्णय उस विधि से ठीक-ठीक जुड़ेगा . अन्यथा भ्रान्ति का अवसर रहेगा . उदाहरणार्थ, भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302 के अधीन दण्डनीय अपराध को "हत्या" कहा गया है और धारा 304 के अधीन दण्डनीय अपराध को "हत्या की कोटि में न आने वाला मानव-वध" कहा गया है . अतः आरोप में या अन्यत्र इन्हीं शब्दों का प्रयोग करना होगा . इसी प्रकार, जिस न्यायालय का जो नाम विधि में दिया गया है उसी का प्रचलन होना चाहिए . उदाहरणार्थ, दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 में Court of Session के लिए "सेशन न्यायालय", Judicial Magistrate के लिए "न्यायिक मजिस्ट्रेट", investigation के लिए "अन्वेषण", inquiry के लिए "जांच" trial के लिए "विचारण", appeal के लिए "अपील" तथा revision के लिए "पुनरीक्षण" का प्रयोग किया गया है . अतः निर्णय में इन्हीं का प्रयोग होना चाहिए, न कि "सत्र न्यायालय", "दण्डाधिकारी", "विवेचना" आदि का . Review का हिन्दी पर्याय "पुनर्विलोकन" है .

कुछ सामान्य शब्द भी विधि के क्षेत्र में आकर विशिष्ट अर्थ ग्रहण कर लेते हैं . इनके हिन्दी पर्यायों के संबंध में विशेष सावधानी की आवश्यकता है . विधि के क्षेत्र में आकर अंग्रेजी शब्द परम्परावश रूढ़ हो गए हैं, हिन्दी शब्दों को वह बात अभी लागू नहीं होती . अतः ऐसे अंग्रेजी शब्दों के पर्याय निश्चित करने में विशेष सावधानी बरती गई है . इसीलिए "limitation" का अर्थ "सीमा" न करके "परिसीमा" किया गया है और "action" का पर्याय "कार्य" न रखकर "अनुयोग" रखा गया है . यद्यपि संस्कृत में "कार्य" शब्द इसी अर्थ में प्रचलित था, किन्तु हिन्दी में नहीं था और उसके प्रयोग से भ्रान्ति की संभावना थी . अतः ऐसे शब्दों के विषय में विशेष रूप से जानकारी प्राप्त करने की आवश्यकता है .

न्याय-प्रशासन में अधिकांशतः संबंध केन्द्रीय अधिनियमों से होता है . ये सभी अधिनियम अंग्रेजी में पारित हुए हैं . किन्तु भारत सरकार ने राजभाषा अधिनियम, 1963 की धारा 5(1) के अधीन

उनके प्राधिकृत हिन्दी पाठ राष्ट्रपति के प्राधिकार से राजपत्र में प्रकाशित कर दिए हैं. इन पाठों का दर्जा केवल अनुवाद का न होकर, मूलपाठ[1] का है. अतः ये उसी प्रकार से अनुकरणीय हैं जिस प्रकार से इनके अंग्रेजी पाठ. भारत सरकार ने बहुत से केन्द्रीय अधिनियमों के द्विभाषीय संस्करण भी प्रकाशित किए हैं जिनमें एक ओर अंग्रेजी पाठ रहता है और दूसरी ओर हिन्दी पाठ. उनका उपयोग बहुत सुविधापूर्ण होगा और उससे सही शब्दावली का ज्ञान भी होता रहेगा. इन पाठों में प्रयुक्त शब्दावली का एक संकलन भारत सरकार ने "विधि शब्दावली" के नाम से प्रकाशित किया है, जिसका अब चौथा संस्करण उपलब्ध है. उसका उपयोग कोश की भांति करने से हिन्दी में कार्य बहुत सरल हो जाता है. अखिल भारतीय हिन्दी विधि प्रतिष्ठान ने भारत सरकार द्वारा निश्चित शब्दावली में से विशेष महत्त्व के शब्दों का संकलन करके दो लघु विधि शब्दावलियां भी प्रकाशित की हैं.

अच्छी हिन्दी लिखने के लिए हिन्दी में पढ़ने का अभ्यास बनाना भी आवश्यक है. केन्द्रीय अधिनियमों के हिन्दी पाठों की बात हम कह ही चुके हैं. उत्तर प्रदेश का भी लगभग सभी विधान 1948 से हिन्दी में है. जो हम अंग्रेजी में पढ़ते हैं वह उसका राज्यपाल के प्राधिकार से प्रकाशित अंग्रेजी अनुवाद है, जो संविधान के अनुच्छेद 348(3) के अनुसार प्राधिकृत अंग्रेजी मूलपाठ का दर्जा प्राप्त कर लेता है.

केन्द्रीय कानूनों और राज्य कानूनों के हिन्दी पाठों के अनुशीलन से यह प्रकट होगा कि उनकी शब्दावली में अनेक स्थलों पर अंतर है. यह स्मरणीय है कि जब केन्द्रीय शब्दावली निश्चित हुई तब तक उत्तर प्रदेश में हजारों पृष्ठों का कानून हिन्दी में बन चुका था. और राज्य के बाद के कानूनों में भी पहले प्रयुक्त शब्दावली की उपेक्षा नहीं की जा सकती. किन्तु अब बराबर प्रयत्न केन्द्रीय शब्दा-

---

1. text.

वली को उत्तरोत्तर अपनाने का है . अत: निर्णय लिखने में भी उधर ही झुकना बेहतर होगा . किन्तु जब राज्य के कानून के किसी उपबन्ध का हवाला देना हो तो उसके हिन्दी पाठ का ही उल्लेख करना होगा तथा राज्य के कानून का शब्द एकाध बार दे देना उचित होगा . दोनों शब्द एक स्थान पर देकर उसे कोष्ठक में किया जा सकता है जिसका प्रयोग आगे न करना हो .

और भी बहुत-सा प्रामाणिक विधि साहित्य हिन्दी में उपलब्ध है . भारत सरकार का विधि मंत्रालय दो मासिक विधि पत्रिकाएं प्रकाशित कर रहा है . एक "उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका", जिसमें सुप्रीम कोर्ट के निर्णयों का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया जाता है और दूसरी "उच्च न्यायालय निर्णय पत्रिका", जिसमें विभिन्न उच्च न्यायालयों के चुने हुए निर्णयों का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया जाता है . यद्यपि इन पत्रिकाओं की भाषा आदर्श नहीं कही जा सकती, फिर भी इनका अध्ययन उपयोगी होगा . अखिल भारतीय हिन्दी विधि प्रतिष्ठान भी दो पत्रिकाएं प्रकाशित कर रहा है : एक "उच्चतम न्यायालय निर्णय-सार", जिसमें सुप्रीम कोर्ट के फैसलों का स्वतःपूर्ण संक्षेप हिन्दी में छापा जाता है और दूसरी "इलाहाबाद दण्ड निर्णय", जिसमें इलाहाबाद उच्च न्यायालय के फौजदारी के निर्णय हिंदी में छापे जाते हैं . "निर्णय-सार" की एक विशेषता यह है कि उससे उच्चतम न्यायालय के निर्णय बहुत सरलता से और कम समय में समझे जा सकते हैं . "दण्ड निर्णय" में वे निर्णय भी पढ़ने को मिलेंगे जो उच्च न्यायालय मूलतः हिन्दी में देता है . इनसे निर्णय-लेखन में विशेष सहायता मिलेगी . भारत सरकार की और अखिल भारतीय हिन्दी विधि प्रतिष्ठान की पत्रिकाएं सभी जिला न्यायाधीशों के पुस्तकालयों के लिए मंगाई जाती हैं और न्यायिक अधिकारी उनका सरलता से उपयोग कर सकते हैं .

तकनीकी हिन्दी शब्दों के संबंध में क्लिष्टता का आक्षेप हो सकता है, जिस पर हम आगे विचार करेंगे . किन्तु इनमें से कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनके विषय में निश्चय ही स्वतन्त्रता ली जा सकती है.

तकनीकी शब्दावली कानूनों के पाठों के आधार पर निश्चित हुई है और इन पाठों के लिए संक्षिप्तता और सूक्ष्मता दोनों की आवश्यकता होती है. हिन्दी के लिए एक अतिरिक्त कठिनाई यह है कि हिन्दी पाठ अंग्रेजी पाठों का शाब्दिक अनुवाद करके तैयार किए गए हैं. सामान्यतः 'प्रत्येक अंग्रेजी शब्द के लिए एक अलग हिन्दी शब्द' का सिद्धान्त अपनाया गया. परिणामतः हिंदी के बहुत से प्रचलित शब्दों को छोड़कर नए शब्द प्रयोग में लाने पड़े. अंग्रेजी ढंग से हिन्दी लिखने तथा अंग्रेजी के कदम से कदम मिला कर चलने के कारण बहुत से अप्रचलित शब्द अपनाने पड़े. न्यायालय फीस अधिनियम में "tenant" शब्द से "किराएदार" और "काश्तकार" दोनों ही अभिप्रेत होते हैं. दोनों का अर्थ व्यक्त करने वाला हिन्दी में कोई एक शब्द प्रचलित नहीं था. अतः संस्कृत के "अभिधारी" शब्द का प्रयोग करना पड़ा. इसी प्रकार से कृषिक भूमि के लगान और मकान के किराए दोनों का भाव व्यक्त करने वाले "rent" शब्द के लिए "भाटक" शब्द का प्रयोग करना पड़ा. इसके अतिरिक्त, अंग्रेजी के लगभग समान अर्थ वाले विभिन्न शब्दों के लिए उनके अर्थों में यत्र-तत्र अंतर होने के कारण अलग-अलग शब्द रखने पड़े. विधि-प्रारूपण[1] की दृष्टि से यह आवश्यक था. किन्तु निर्णय-लेखन में यह सर्वत्र आवश्यक नहीं होगा. यदि संदर्भ से केवल मकान का किराया अभिप्रेत हो तो "भाटक" शब्द का प्रयोग न करके "किराया" शब्द का प्रयोग किया जा सकता है. उसी प्रकार यदि हिन्दी पाठ में प्रचलित शब्द को किसी विशिष्ट कारणवश छोड़कर नया शब्द प्रयोग में लाना पड़ा हो तो निर्णय-लेखन के अवसर पर वह कारण विद्यमान न होने पर प्रचलित शब्द प्रयोग में लाया जा सकता है. उदाहरणार्थ, "deposition" के लिए उसमें शपथपत्र शामिल होने के कारण "अभिसाक्ष्य" शब्द का प्रयोग करना पड़ा. किन्तु जहां उसका अर्थ केवल साक्षी के बयान से हो वहां "बयान" शब्द

1. legislative drafting.

का प्रयोग किया जा सकता है; बल्कि किया जाना चाहिए . किसी भाषा को दूसरी भाषा का फोटो चित्र नहीं बनाया जा सकता .

जहां तक मैरतकनीकी शब्दों के प्रयोग का सम्बन्ध है, सामान्य सिद्धांत यह अपनाया जा सकता है कि सरलतम और उपयुक्ततम शब्द का प्रयोग किया जाए . यह ध्यान बराबर रहना चाहिए कि जिस शब्द का हम प्रयोग कर रहे हैं उसका दूसरा व्यक्ति क्या अर्थ समझ सकता है . स्थानीय शब्दों के प्रयोग से यथासंभव बचना चाहिए क्योंकि वे थोड़े से ही क्षेत्र में सरल लगते हैं तथा अन्यत्र समझे नहीं जाते . अतः व्यापक प्रचार वाले शब्द ही अपनाए जाने चाहिए . यह भी ध्यान रहना चाहिए कि वह शब्द किसी अन्य ऐसे अर्थ के लिए निश्चित न किया गया हो जिससे भ्रान्ति का अवसर आए .

केन्द्रीय हिन्दी शब्दावली पर नाना प्रकार की आपत्तियां की जाती हैं और वैकल्पिक सुझाव दिए जाते हैं . इन पर कुछ चर्चा आवश्यक है, जिससे कि उस शब्दावली में आस्था जमे और उसके प्रयोग के लिए उत्साह बढ़े . सभी हिन्दी-भाषी राज्य उस शब्दावली की ओर अग्रसर हो रहे हैं . किन्तु व्यक्तिगत स्तर पर भी उसकी मान्यता एवं अनुसरण आवश्यक है .

पहली आपत्ति शब्दों की उपयुक्तता के विषय में की जाती है . प्रायः कहा जाता है कि निश्चित हिन्दी पर्याय में अंग्रेजी शब्द का पूरा भाव नहीं आता . यह दृष्टिकोण इस भाषावैज्ञानिक तथ्य की विस्मृति पर आश्रित है कि शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध नहीं होता [हम अध्यात्मवादियों और तांत्रिकों की बात नहीं करते] . एक ही ध्वनि विभिन्न भाषाओं में अलग-अलग अर्थ व्यक्त करती है; बल्कि एक ही ध्वनि उसी भाषा में भिन्न वर्तनी[1] होने पर भिन्न भाव व्यक्त करती है, जैसे कि अंग्रेजी के "deer" तथा "dear" . यही नहीं, एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं, जैसे "determination" का एक अर्थ अवधारण का होता है और दूसरा अवसान या समाप्ति

1. spelling.

का . सभी भाषाओं के विषय में स्थिति यही है . श्रीमद्भागवद्गीता में "पर्याप्त" और "अनुत्तम" शब्द सीमित तथा सर्वोत्तम के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, जो प्रचलित अर्थों से बिल्कुल भिन्न हैं . अंग्रेजी शब्द में वर्तमान अर्थ प्रयोग की परम्परा के कारण आ गए हैं . हिन्दी शब्द भी परम्परा बन जाने पर वह पूरा भाव व्यक्त करता प्रतीत होने लगेगा . भला "fire station" में आग बुझाने का भाव कहां से आ गया !

दूसरे, भाषा क्षेत्र में रुचि-वैचित्र्य भी होता है . सब शब्द सभी को पसन्द हों, यह असम्भव है . केन्द्रीय शब्दावली के विषय में यह भी स्मरणीय है कि वह सामान्यतः उन चौदहों भाषाओं के विद्वान् विधिज्ञों ने, जो मूल संविधान की आठवीं अनुसूची में थीं, विस्तृत चर्चा करके तथा गम्भीर शोध और अध्ययन की एक लम्बी प्रक्रिया अपना कर निश्चित की है . शब्द निश्चित करने में राज्य शासनों से भी बराबर परामर्श किया गया . प्रत्येक शब्द के पीछे विशिष्ट अध्ययन है और यदि कोई शब्द हमें ठीक नहीं जंचता तो उसका मुख्य कारण हमारा अज्ञान अथवा हमारे दृष्टिकोण की संकीर्णता ही होगा . अतः अपनी-अपनी चलाने का आग्रह अनुचित होगा . कुछ अनुशासन तो मानना ही होगा .

अन्य आपत्ति इस शब्दावली की संस्कृतनिष्ठता की होती है . पहली बात यह स्पष्ट होनी चाहिए कि यह किसी का आग्रह नहीं रहा है कि अन्य भाषाओं के हिन्दी में प्रचलित शब्द निकाल दिए जाएं . अरबी-फारसी तथा अंग्रेजी भाषाओं के प्रचलित शब्द बराबर अपनाए गए हैं, जैसे, अंग्रेजी के अपील, इंजीनियर, कम्पनी, कमिश्नर कमीशन, कलेक्टर, कार्टर, गारण्टी, टिकट, डिक्री, डिग्री, डिबेञ्चर, बोनस, पुलिस, पेंशन, फीस, बोर्ड, मजिस्ट्रेट, रेल, वारण्ट, समन, सिगनल, सिविल, सेशन, स्टाम्प और स्टेशन; तथा अरबी-फारसी के अर्जी, औसत, करार, गिरफ्तार, जोखिम, तारीख, दस्तावेज, दावा, दौरान, नीलाम, नुकसान, पेश, फरार, बयान, मंजूरी, माफी, मामला, आदि . तद्विषयक उदारता का प्रत्यक्ष उदाहरण "first information

report" का पर्याय "प्रथम इत्तिला रिपोर्ट" है, जिसमें पहला शब्द संस्कृत का है, दूसरा अरबी का और तीसरा अंग्रेजी का.

कहीं तो देखने में यह आता है कि जहां केन्द्रीय शब्दावली में अंग्रेजी या अरबी-फारसी के शब्द अपनाए गए हैं वहां भी कुछ लोग संस्कृत शब्द का प्रयोग बेहतर समझते हैं. शुद्ध हिन्दी लिखने की धुन में अन्य भाषाओं के हिन्दी में प्रचलित शब्दों को भी अनुचित रूप से बहिष्कृत करके संस्कृत मूलक शब्द का प्रयोग किया जाता है. यह दृष्टिकोण वैज्ञानिक नहीं है. कोई भी जीवित भाषा आदान-प्रदान से ही विकसित होती है. अतः चलन एवं आवश्यकता के अनुसार अन्य भाषाओं के शब्दों के प्रयोग का पूर्ण औचित्य है. शुद्ध तो संभवतः कोई प्रारम्भिक असभ्य भाषा ही रही होगी. वर्तमान भाषाएं तो आदान-प्रदान से ही विकसित हुई हैं. और हिंदी का तो अपना नाम ही फारसी का है. अतः शुद्धता की बात यहां और भी नहीं जंचती. यह अवश्य है कि संस्कृत से भिन्न भाषाओं के शब्द ऐसे होने चाहिए जो हिन्दी में पहले से प्रचलित हों, उनके उच्चारण में कोई कठिनाई न हो, और सामान्य तौर पर उनसे अन्य शब्द बनाने की आवश्यकता न होती हो. यदि हिन्दी में अपनाए गए किसी विदेशी भाषा के शब्द से बहुवचन आदि बनाए जाएं तो हमें अनुसरण हिन्दी के व्याकरण का ही करना होगा. उदाहरणार्थ, "कलेक्टर" का बहुवचन "कलेक्टर्स" न होकर "कलेक्टरों" होगा और "दस्तावेज" का बहुवचन "दस्तावेजें" होगा, न कि "दस्तावेजात". हां! उर्दू के उन प्रत्ययों की बात दूसरी है जो हिन्दी में भी स्थान पा चुके हैं, जैसे–"गिरफ्तारी" में प्रयुक्त "ई" प्रत्यय.

फिर भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि संस्कृत शब्दावली की बहुलता है. इसके अनेक सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक कारण हैं. इन्हीं कारणों से प्रेरित होकर प्रत्येक क्षेत्र में संस्कृतनिष्ठ शब्दावली ही अपनाई गई है. इस कार्य के लिए बनाई गई लगभग एक दर्जन केन्द्रीय और हिन्दी-भाषी राज्यों की समितियों और आयोगों ने जो शब्दावलियां निश्चित की वे प्रायः संस्कृतनिष्ठ ही हैं. सर्वप्रथम

संविधान का अनुच्छेद 351 उल्लेखनीय है जिसमें हिन्दी शब्दावली के विकास के लिए प्रथमतः संस्कृत से शब्द लेने का निदेश दिया गया है . दूसरे, संस्कृत हिन्दी भाषा के मूल में है . उसके शब्द हिन्दी में आसानी से घुलमिल जाते हैं और सरलता से समझ में आ जाते हैं . हिन्दी ही क्यों, अधिकांश भारतीय भाषाओं के मूल में संस्कृत है . इस कारण संस्कृत के शब्द अन्य भाषा-भाषियों को भी ज्ञात एवं स्वीकार्य होते हैं . अरबी-फारसी के जिन शब्दों को हम सरल समझते हैं, वे अन्य भारतीय भाषाओं में बहुधा भिन्न अर्थ व्यक्त करते हैं . जैसे, "राजीनामा" शब्द का मराठी तथा चारों दक्षिणी भाषाओं में अर्थ "त्यागपत्र" होता है . हिन्दी अखिल भारतीय भाषा होने के नाते उसके शब्द निश्चित करने में अखिल भारतीय दृष्टिकोण रखना होता है और अखिल भारतीय दृष्टिकोण अपनाने पर सामान्यतः एकमत संस्कृत शब्दों पर ही होता है . संस्कृत से शब्द अपनाने पर उन शब्दों की व्युत्पत्ति भी आसानी से समझाई जा सकती है, विशेषतः ऐसे लोगों को जो अंग्रेजी नहीं जानते . उदाहरणार्थ, estoppel के लिए अपनाया गया "विबन्ध" शब्द आज भले ही कड़ा लगे; किन्तु अंग्रेजी न जानने वाले को वि+बंध अर्थात् एक विशेष प्रकार का बंधन कहकर वह आसानी से समझाया जा सकता है . पर अंग्रेजी न जानने वाले को estoppel शब्द नहीं समझाया जा सकेगा . यह आवश्यक नहीं है कि हमारी भावी पीढ़ियां अनिवार्य रूप से अंग्रेजी का ज्ञान रखें . अन्य भाषाओं के जो शब्द हमें उनके अभ्यास के कारण सरल लगते हैं वही उनका अभ्यास न रखने वाली हमारी भावी पीढ़ियों को कड़े लगेंगे .

इस सन्दर्भ में अन्य बात की जाती है क्लिष्टता की . पहले तो यह स्पष्ट होना चाहिए कि क्लिष्टता का मुख्य कारण शब्दों की नवीनता है . जिसके हम अभ्यस्त नहीं होते हैं वह हमें क्लिष्ट लगता है और जिसके हम अभ्यस्त होते हैं वह सरल लगता है . जिस अंग्रेजी भाषा पर हम दिन-रात परिश्रम करके भी अधिकार नहीं कर पाते वह एक अंग्रेज बालक को अनायास ही आ जाती है . अतः जो शब्द आज हमें

क्लिष्ट लगते हैं वही अभ्यास से स्वतः सरल लगने लगेंगे . उदाहरणार्थ, संविधान, सचिव, उपसचिव, राष्ट्रपति, लोक सभा, राज्य सभा, विधान सभा, विधान परिषद्, आदि शब्द प्रारम्भ में कितने विचित्र लगते थे . आज उतने ही सरल और स्वाभाविक लगते हैं .

फिर, विधि एक तकनीकी विषय है जिसमें सूक्ष्म भावों और उनके अंतरों को व्यक्त करने के लिए बहुत बड़ी संख्या में शब्द चाहिए . सामान्यतः प्रयोग में आने वाले शब्दों की संख्या बहुत कम होती है . अतः कोई भी भाषा हो, विधि के क्षेत्र में ऐसे शब्दों का प्रयोग अनिवार्य है जो अज्ञात या अल्पज्ञात लगें . इसी कारण आज तक विधि "आमफहम" कही जाने वाली भाषा में नहीं लिखी गई और न लिखी जा सकती है . डा. सुन्दर लाल ने संविधान का सरल भाषा में अनुवाद करने का भगीरथ प्रयास किया था; किन्तु सादर निवेदन है कि वह बिल्कुल असफल रहे और उसे किसी ने नहीं अपनाया .

यदि हम शब्दों के वाद-विवाद में फंसे रहेंगे और प्रत्येक व्यक्ति पाणिनि या अमर सिंह बनना चाहेगा तो हम कभी निर्णय न कर पाएंगे और आगे प्रगति रुकी रहेगी . वैसे भी भाषा में अंतिम कुछ नहीं होता . नैसर्गिक रूप से उसका विकास होता रहता है . अतः वांछनीय यही है कि जो शब्दावली निश्चित हो चुकी है उसे सही मानकर आगे बढ़ें .

**लिंग-वचन**[1] :

शब्दों के प्रयोग में लिंग व वचन का भी ध्यान रखना आवश्यक होता है . इनमें लिंग-भेद विशेष उल्लेखनीय है . यह दो प्रकार का होता है :

1. नैसर्गिक, अर्थात् शब्द के अर्थ के अनुसार; तथा
2. व्याकरणिक, अर्थात् स्वयं शब्द के रूप के अनुसार .

प्रथम में यह देखा जाता है कि शब्द किस वस्तु का द्योतन करता है और

---

1. व्याकरण की विस्तृत व्याख्या यहां सम्भव नहीं है . कुछ प्रमुख बातों को लेकर संक्षिप्त चर्चा की जा रही है .

उस वस्तु का जो लिंग होता है उसी में उस शब्द का प्रयोग किया जाता है. इस प्रकार की व्यवस्था आधुनिक अंग्रेजी भाषा में है. व्याकरणिक लिंग-भेद में शब्द के अर्थ पर न जाकर स्वयं शब्द का कुछ सिद्धान्तों अथवा परम्परा के अनुसार लिंग माना जाता है. इस प्रकार का लिंग-भेद जर्मन तथा फ्रेंच भाषाओं में है. संस्कृत और हिन्दी की भी वही स्थिति है. इसके अनुसार एक ही अर्थ को व्यक्त करने वाले विभिन्न शब्दों का प्रयोग भिन्न-भिन्न लिंगों में हो सकता है, उदाहरणार्थ- "स्त्री", "दार" और "कलत्र" तीनों शब्दों का अर्थ स्त्री ही है; किन्तु प्रथम स्त्रीलिंग है, द्वितीय पुल्लिंग है और तृतीय नपुंसकलिंग है. "आंख" और "नेत्र", 'पुस्तक' व "ग्रन्थ", "चिड़िया" व "पक्षी", "देह" व "शरीर" पर्याय हैं; किन्तु इनमें प्रथम स्त्रीलिंग हैं और द्वितीय पुल्लिंग. हिन्दी में लिंग-निर्णय के लिए परम्परा पर निर्भर करना होगा. सन्देह की दशा में शब्द कोश का आश्रय लिया जा सकता है.

विधि-क्षेत्र में प्रयुक्त कुछ शब्दों में तद्विषयक त्रुटि देखने में आई है. उदाहरणार्थ, "नोटिस" और "साक्ष्य" शब्दों का प्रयोग कुछ महानुभाव स्त्रीलिंग में करते हैं. प्राधिकृत पाठों में इनका प्रयोग पुल्लिंग में ही किया गया है. अतः वही अपनाया जाना चाहिए. "पीठ" शब्द स्त्रीलिंग में तो मनुष्य की पीठ का द्योतक होता है. "बैंच" के अर्थ में प्रयुक्त "पीठ" या "न्यायपीठ" का प्रयोग पुल्लिंग में होना चाहिए. "दस्तावेज" शब्द का बहुधा पुल्लिंग में प्रयोग किया जाता है; किन्तु उसकी मूल भाषा फारसी में वह स्त्रीलिंग होने के कारण प्राधिकृत पाठों में उसका प्रयोग स्त्रीलिंग में ही किया गया है. इसी प्रकार "संविदा" शब्द अपनी मूल भाषा संस्कृत में स्त्रीलिंग होने के कारण उसका प्रयोग स्त्रीलिंग में किया गया है, और किया जाना चाहिए. प्रामाणिक हिन्दी विधि साहित्य पढ़ने पर अपेक्षित ज्ञान स्वतः प्राप्त होता रहेगा और कोई कठिनाई नहीं आएगी.

क्रियाओं में लिंग और वचन की ओर ध्यान देने की विशेष

आवश्यकता होती है . बल्कि क्रियाओं में लिंग-भेदहिन्दी की अपनी विशिष्टता है . इस दृष्टि से क्रिया के तीन प्रकार होते हैं :-

(क) जहां क्रिया का लिंग-वचन कर्ता के अनुसार हो . जैसे-

वह लड़का चोरी करता है .
वह लड़की चोरी करती है .
वे लड़के चोरी करते हैं .

(ख) जहां क्रिया का लिंग-वचन कर्म के अनुसार हो, जैसे-

इस लड़के ने अपराध किया .
इस लड़के ने चोरी की .
इन लड़कों ने चोरी की .

(ग) जहां क्रिया कर्ता व कर्म दोनों से स्वतन्त्र हो . जैसे-

इस लड़के ने उस लड़की को मारा .
इन लड़कों ने उन लड़कों को मारा .

समस्या तब आती है जब क्रिया द्वारा अनुसरणीय कर्ता/कर्म अनेक हों तथा उनमें लिंग-वचन की भिन्नता हो .

वह लड़की और लड़का मिलकर चोरी करते हैं .
इन अपराधियों ने अपनयन और हत्या की .

ऐसी दशा में प्रायः क्रिया अपने निकटतम, यथास्थिति, कर्ता या कर्म का अनुसरण करती है . जैसे-

पुरुष और स्त्री आई .
स्त्री और पुरुष आया .
लड़के ने अपनयन और हत्या की .
एक लड़का और दो लड़कियां गईं .
लड़के ने अपनयन और तीन हत्याएं कीं .

जहां संयोजक[1] अव्यय हो वहां, यथास्थिति, कर्ताओं या कर्मों के एकवचन होने पर भी क्रिया बहुवचन हो सकती है . जैसे-

एक स्त्री और एक लड़का गए;

---

1. conjunctive.

किन्तु लिंग सामान्यतः पुल्लिंग ही होगा : "एक लड़का और एक लड़की गई" किसी को भी ठीक नहीं लगेगा . हमारी भाषा पुल्लिंग प्रधान है . तभी तो भारतीय दण्ड संहिता की धारा 8 में पुल्लिंग में स्त्रीलिंग का समावेश होने की बात कही गई है . कठिनाई का निराकरण इस प्रकार किया जा सकता है कि अनुसरणीय कर्ताओं या कर्मों में पुल्लिंग को क्रिया के निकटतम रखें . जहां यह एकवचन और बहुवचन दोनों हों वहां बहुवचन को क्रिया के निकटतम रखें, जैसे- "दो पुरुष और एक स्त्री गई", की बजाय लिखें- "एक स्त्री और दो पुरुष गए" .

सकर्मक क्रियाओं में जहां क्रिया कर्म के अनुसार हो वहां कारक चिह्न "को" का प्रयोग करके भी अनेक स्थलों पर क्रिया को स्वतंत्र किया जा सकता है . जैसे –

इस अपराधी ने एक पुरुष और दो स्त्रियों को पीटा .
उन अपराधियों ने दो स्त्रियों और एक पुरुष को पीटा .

यहां क्रिया एकरूप रहेगी, न वह कर्ता का अनुसरण करेगी और न कर्म का . इन सभी प्रयोगों में भाषा की स्वाभाविकता और चलन का ध्यान रखना होगा .

संबंध कारक के चिह्न "का", "की", "के" में भी लिंग व वचन का भेद रहता है; किन्तु बहुवचन "के" का प्रयोग पुल्लिंग के संदर्भ में ही होता है, जैसे–

राम का धन, राम की सम्पत्ति, राम के साधन, राम की सम्पत्तियां .

सर्वनाम के साथ भी स्थिति यही रहती है, चाहे कारक चिह्न हो या न हो . जैसे–

उसकी/हमारी सम्पत्ति .
उसका/हमारा धन .
उसके/हमारे साधन .

जब भिन्न लिंग-वचन वाले शब्द हों तो कारक का प्रयोग निकटतम शब्द के अनुसार ही होगा . जैसे–

राम का घर व अन्य सम्पत्ति .

राम की सम्पत्ति व अन्य सब अधिकार .

इसमें भी बहुवचन शब्द को पहले लेना पढ़ने में अधिक रुचिकर लगेगा . जैसे, "राम की पत्नी व तीनों पुत्र" लिखने की बजाय "राम के तीनों पुत्र व पत्नी" लिखना अधिक रुचिकर लगेगा . अर्थ की दुविधा को हटाने के लिए कुछ आवृत्ति भी की जा सकती है, जैसे–राम की संपत्ति व उसके अन्य सब अधिकार .

**शब्द-विन्यास :**

शब्द-विन्यास या वाक्य-विन्यास, अर्थात् वाक्य में शब्दों के क्रम की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है . यथासंभव छोटे वाक्यों का प्रयोग किया जाना चाहिए . उससे भाषा में अधिक सरलता और ग्राह्यता रहेगी . बड़े वाक्य को तोड़ कर उसे छोटे वाक्यों में विभाजित किया जा सकता है ; प्रत्येक वाक्य के शब्द उचित क्रम में रहें . अंग्रेजी भाषा से हिन्दी कई मामलों में भिन्न है . अंग्रेजी में कर्म या पूरक, क्रिया के बाद आता है, जबकि हिन्दी में वह पहले आता है . जैसे–

अभियुक्त ने अपराध किया .

अभियुक्त भाग कर दिल्ली गया .

अंग्रेजी में अपराध का पर्याय offence तथा "दिल्ली" क्रिया के बाद आते . यदि कर्म या पूरक बहुत से हों तो क्रिया के पहले "निम्नलिखित" लिखकर पूरक/कर्म बाद में गिनाए जा सकते हैं . हां, उक्त क्रम अनिवार्य नहीं है . जब किसी शब्द पर विशेष जोर देना हो तो उसका स्थान बदल भी सकता है . किन्तु ऐसे अवसर विधि के क्षेत्र में विरले ही होंगे . अतः उक्त क्रम का ही अनुसरण किया जाना चाहिए . और अंग्रेजी भाषा वाले क्रम का अनुसरण करके हिन्दी को अस्वाभाविक नहीं बनाना चाहिए .

क्रिया-विशेषण भी हिन्दी में पहले आते हैं; अंग्रेजी की भांति बाद में नहीं . इसको ध्यान में रखते हुए ही शब्द-विन्यास निश्चित करना चाहिए .

**संयोजक :**

अंग्रेजी में संयोजक शब्द, एक "and" ही है और एकमात्र

वियोजक है or. किन्तु हिन्दी में कम-से-कम चार संयोजक हैं– 'और', 'तथा', 'व', 'एवं'. वियोजक भी कम-से-कम दो हैं– 'या', 'अथवा,. लिखने में भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग कर्णकटु आवृत्ति से बचने के लिए तो किया ही जा सकता है, अपितु यह सिद्धांत अपनाया जा सकता है कि जहां अनेक विभाजन हों वहां मुख्य विभाजन के लिए एक शब्द का प्रयोग किया जाए और उपविभाजन के लिए दूसरे का. सामान्यतः यह भी देखना होगा कि कौन सा शब्द किस स्थान पर पड़ने में बेहतर लगता है.

**वर्तनी**[1] :

अंत में बात आती है वर्तनी की. कुछ शब्दों को अनेक प्रकार से लिखा जाता है, जैसे–

जाएगा, जायगा, जायेगा.
गईं, गयीं.
हुए, हुये.
नए, नये.

प्रश्न उठता है कि केवल स्वर का प्रयोग किया जाए अथवा 'या', 'यी' और 'ये' का. स्पष्ट है कि वहां ध्वनि केवल 'ए' या 'ई' की है. अतः कोई कारण नहीं है कि 'य' का भी समावेश किया जाए. एक तर्क दिया जाता है कि जब 'गया' में 'या' लिखा जाता है तो 'गयी' और 'गये' में क्यों न लिखा जाए. स्मरणीय है कि 'गया' में भी 'य' का अस्तित्व किसी व्युत्पत्ति की दृष्टि से न होकर, उच्चारण की दृष्टि से ही है. 'गआ' बोलने में असुविधा होती, इस कारण 'गया' बोला जाने लगा. 'हुआ' के स्थान 'हुया' तो कोई नहीं लिखता!

इसका एक अपवाद यह होगा कि जब 'य' व्याकरण या व्युत्पत्ति की दृष्टि से शब्द का अंग हो तो उसका ही प्रयोग किया जाना चाहिए. यह मुख्यतः संस्कृत से आए शब्दों के विषय में होगा, जैसे– 'स्थायी', व 'अधिष्ठायी'. यहां 'स्थायिन्' और 'अधिष्ठायिन्' का

1. spelling.

हिन्दी में 'स्थायी' और 'अधिष्ठायी' हो गया है .

यह तो रही वैकल्पिक वर्तनी की बात . बहुत जगह अज्ञान के कारण भी लोग गलत लिख जाते हैं . बहुप्रचलित त्रुटियों के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :

| अशुद्ध | शुद्ध | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| अनाधिकार | अनधिकार | तद्नुसार | तदनुसार |
| अत्याधिक | अत्यधिक | दृष्टव्य | द्रष्टव्य |
| अवरान्ह | अवराह्न | पूर्वान्ह | पूर्वाह्न |
| आधीन | अधीन | मध्यान्ह | मध्याह्न |
| गृहीत | गृहीत | श्राप | शाप |
| घन्टा | घंटा/घण्टा | श्रोत | स्रोत |

इन सबके पीछे सिद्धांत हैं, जिनकी जानकारी के लिए कोश व व्याकरण का अध्ययन करना होगा .

निष्कर्ष यही है कि हिन्दी लिखें, वह हिन्दी लिखें जो तकनीकी एवं व्याकरणिक दृष्टि से सही होते हुए भी स्वाभाविक एवं सरल हो . अंग्रेजी का अन्धानुकरण करने को बजाय यह विचार कर लिखें कि जो बात अंग्रेजी में कही गई है वह मूल रूप से हिन्दी में कही जाने पर किस प्रकार कही जाती . प्रामाणिक हिन्दी विधि-साहित्य पढ़ते रहने से यह सब सुकर हो जाएगा .

---

*In the beginning was the Word, and the Word was with God, and the Word was God.*

—St. John 1-1 .

**वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म ॥**

– बृहदारण्यक. 4-12 ॥

वाणी ही सर्वोच्च शासक एवं परम ब्रह्म है ।

# नैसर्गिक न्याय[1] के सिद्धान्त

– न्यायमूर्ति डा. आर.आर मिश्र
न्यायाधीश, इलाहाबाद उच्च न्यायालय

भारत के संविधान द्वारा लक्षित उद्देश्य उसकी उद्देशिका (प्रस्तावना) में दिए गए हैं . उसमें कहा गया है कि हम भारत के लोग उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय दिलाने के लिए दृढ़संकल्प हैं . इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए न्याय-निर्णयन[2] की प्रक्रिया बनाई गई . नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत न्यायिक प्रक्रिया के अंग हैं तथा उनका पालन न्यायिक, न्यायिक-कल्प[3] और प्रशासनिक निकायों के दिन-प्रतिदिन के विनिश्चयों में किया जाना है . किन्तु नैसर्गिक न्याय की धारणा और सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय की धारणा में भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि ये दोनों अलग-अलग हैं .

नैसर्गिक न्याय की प्रकृति समझने के लिए यह ध्यान रखने योग्य है कि उसके सिद्धांत नैसर्गिक साम्या[4] पर आधारित हैं, जैसा कि कालिन के मामले – (1610) 7 को. 1 ए. में निर्णय किया गया . फिर भी ये सिद्धान्त पूर्वधारणाओं पर आधारित लिखित नियम नहीं है . वे परिवर्तनशील हैं तथा अनेक बातों पर निर्भर करते हैं, जैसे कि मामले के तथ्य और परिस्थितियां, विनिश्चय करने वाले प्राधिकारी की प्रकृति, स्थिति की आवश्यकता, तथा वे कानूनी नियम और विनियम जिनके अधीन रहते हुए उस प्राधिकारी को अपना कर्तव्य-पालन करना होता है .

भारत जैसे कल्याणकारी राज्य में यह प्रवृत्ति बढ़ रही है कि पक्षकारों के बीच तथा व्यक्तियों और राज्य के बीच उठने वाले विवादों

---

1. natural justice.
2. adjudication.
3. quasi-judicial.
4. equity.

का विनिश्चय अधिकरण और प्रशासनिक प्राधिकारी करें . यह अनिवार्य भी है, क्योंकि अपने प्रजातंत्र में हम सभी (नैसर्गिक या विधिक) व्यक्ति विधि के शासन द्वारा नियंत्रित होते हैं . जब राज्य कल्याणकारी राज्य के रूप में कार्य करे तो यह अनिवार्य है कि प्रशासनिक निकायों की अधिकारिता बढ़ती रहे . हमारा अनुभव भी यही रहा है . यदि राज्य के अभिकरणों पर यह भार न डाला जाए कि अपने कर्तव्यों का सम्पादन निष्पक्ष और न्यायपूर्ण ढंग से करें तो विधि के शासन की कल्पना ही समाप्त हो जाएगी . न्यायिक रूप से कार्य करने का भाव सारतः यही है कि कार्य न्यायपूर्ण एवं निष्पक्ष ढंग से करें, न कि स्वच्छन्दता या सनक से . न्यायिक शक्ति के प्रयोग में जो प्रक्रियाएं अंतर्निहित मानी गई हैं वे केवल ऐसी प्रक्रियाएं हैं जो न्यायपूर्ण और निष्पक्ष विनिश्चय सुनिश्चित करना सरल कर देती हैं . हाल के वर्षों में न्यायिक-कल्प शक्ति की धारणा में मूलभूत परिवर्तन होते रहे हैं . जिसे हम कुछ समय पूर्व प्रशासनिक शक्ति समझते थे उसे अब न्यायिक-कल्प शक्ति समझा जाता है .

आधुनिक प्रशासनिक विधि के विकास में भी नैसर्गिक न्याय के नियम महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं क्योंकि उनसे प्रशासनिक प्राधिकारियों द्वारा अनुसरण की जाने वाली प्रक्रिया पर न्यायिक नियंत्रण का आधार मिल जाता है . यह प्रत्यक्ष है कि कल्याणकारी राज्य में प्रशासन को व्यक्तियों के शरीर और संपत्ति में हस्तक्षेप करने की व्यापक शक्तियां प्राप्त होती हैं . इसे देखते हुए सुनवाई का अधिकार एक ऐसा अधिकार है जो प्रशासन द्वारा प्रयुक्त शक्ति के दुरुपयोग या स्वच्छन्दता से रक्षा का एक महत्त्वपूर्ण उपाय हो जाता है . यह संबंधित प्राधिकारी को सभी सुसंगत तथ्यों और विशिष्ट परिस्थितियों में उठने वाले सभी प्रश्नों की ओर ध्यान देने में समर्थ बना देता है . नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों के लागू होने से उस प्राधिकारी से यह अपेक्षा भी हो जाती है कि मनोनियोग के उपरान्त तर्कसंगत निर्णय दे . यदि प्राधिकारी अपने निष्कर्ष पर पहुंचने में किसी सुसंगत सामग्री को अनदेखा करे या नैसर्गिक न्याय के किसी सिद्धान्त का उल्लंघन

करे तो उच्चतर न्यायालय उसके बारे में कार्रवाई कर सकेगा .

भारत के संविधान में हम पाते हैं कि अनुच्छेद 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय और अनुच्छेद 226 व 227 के अधीन उच्च न्यायालय को शक्ति प्रदान की गई है कि निचले न्यायालयों, अधिकरणों और प्रशासनिक निकायों द्वारा पारित निर्णयों और आदेशों पर नियंत्रण रखें . यह सुनिश्चित करने के लिए कि नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का अनुसरण किया जाए, इन न्यायालयों को विभिन्न प्रकार की रिटें जारी करने की व्यापक शक्तियां प्रदान की गई हैं, जिनमें समादेश रिट,[1] उत्प्रेषण रिट[2] और प्रतिषेध रिट[3] भी हैं . नागरिकों को न्यायालय से उपलब्ध इन उपचारों की वास्तविक प्रकृति क्या है ? हमें भलीभांति ज्ञात है कि ये रिटें संविधान में या किसी अन्य अधिनियमिति[4] में परिभाषित नहीं हैं . उनका सही भाव समझने के लिए हमें अंग्रेजी न्याय-पद्धति की ओर दृष्टिपात करना होगा और उसके अध्ययन से तुरन्त प्रकट हो जाएगा कि इन उच्च विशेषाधिकार-सम्पन्न रिटों को जारी करने में अन्य आधारों के साथ-साथ एक आधार नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों के उल्लंघन का था . यहां यह बता देना समुचित होगा कि नैसर्गिक न्याय की धारणा में मूलतः दो बातें आती हैं :-

क. **दूसरे पक्षकार को भी सुनो**, अर्थात् किसी व्यक्ति के विरुद्ध निर्णय उसे सुनवाई का अवसर दिए बिना नहीं किया जाना चाहिए . दूसरे शब्दों में, जिस व्यक्ति पर निर्णय का प्रभाव पड़ना हो उसे सुनवाई का अधिकार होगा .

ख. **कोई अपने मामले में न्यायाधीश नहीं हो सकता.** दूसरे शब्दों में, निर्णय करने वाला प्राधिकारी पूर्वधारणा या पूर्वग्रह[5] से मुक्त होना चाहिए .

---

1. Writ of Mandamus.
2. Writ of Certiorari.
3. Writ of Prohibition.
4. enactment.
5. bias.

**सुनवाई का अवसर :**

ऐतिहासिक दृष्टि से प्रकट होगा कि **रिज बनाम बाल्डविन** – 1964 अपील केसेज 40 वाले अग्रगामी निर्णय तक इंग्लैण्ड में नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों के अनुसरण की अपेक्षा न्यायिक व न्यायिक-कल्प निकायों से ही थी, न कि प्रशासनिक अधिकरणों या प्राधिकारियों से . भारत में भी उसका अनुसरण किया गया और **ऊँपक** वाला निर्णय (आ.इं.रि. 1970 सु.को. 150) तक न्यायिक एवं न्यायिक-कल्प तथा प्रशासनिक निकायों के बीच में वही अंतर बराबर माना गया . किन्तु इंग्लैंड और भारत दोनों में ही कठिन परिस्थितियां उत्पन्न होती रहीं क्योंकि न्यायिक-कल्प और प्रशासनिक निकायों में अन्तर की विभाजन-रेखा स्पष्ट नहीं थी . **ऊँपक** वाले उक्त मामले में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय किया कि नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त न्याय प्राप्त कराने और अन्याय रोकने के लिए हैं . प्रशासनिक निकायों की शक्ति में वृद्धि के साथ-साथ यह सुनिश्चित करना आवश्यक हो गया है कि नई तानाशाही का सृजन न हो . न्यायालय ने कहा :

> "प्रशासनिक शक्ति और न्यायिक-कल्प शक्ति के बीच की विभाजन-रेखा बहुत सूक्ष्म है और धीरे-धीरे मिटती जा रही है . यह निर्णय करने के लिए कि शक्ति प्रशासनिक शक्ति है या न्यायिक-कल्प शक्ति, देखना यह होगा कि प्रदत्त शक्ति की प्रकृति क्या है, किस व्यक्ति या किन व्यक्तियों को वह प्रदान की गई है, वह शक्ति प्रदान करने वाली विधि की रूपरेखा क्या है, उस शक्ति के प्रयोग से उत्पन्न होने वाले परिणाम क्या हैं, और वह ढंग क्या है जिससे कि उस शक्ति का प्रयोग किया जाना है ."

उच्चतम न्यायालय के विभिन्न निर्णयों के संक्षिप्त सर्वेक्षण से भारत में नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का विकास-क्रम प्रकट हो जाएगा . उच्चतम न्यायालय के पहले के कुछ निर्णयों के अनुसार जहां न्यायिक तौर पर कार्य करने का कर्तव्य न हो वहां नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों के पालन की आवश्यकता नहीं समझी गई . किन्तु बाद में **रामकृष्ण**

**डालमिया बनाम न्याय. तेन्दुलकर** – आ.इं.रि. 1958 सु.को. 538 में हुआ यह कि केन्द्रीय सरकार ने अर्जीदार द्वारा किए गए बताए गए सदोष कार्यों के अन्वेषण के लिए एक जांच आयोग नियुक्त किया. उच्चतम न्यायालय ने निर्णय किया कि क्योंकि आयोग को केवल अन्वेषण करके अपने निष्कर्ष एवं सिफारिशें लिखनी हैं तथा उन्हें क्रियान्वित कराने की कोई शक्ति उसे प्राप्त नहीं है, अतः वह जांच या रिपोर्ट इस अर्थ में न्यायिक जांच नहीं मानी जा सकती कि वह वस्तुतः न्यायिक कृत्य का सम्पादन है.

**बम्बई प्रान्त बनाम खुशालदास अडवानी** – आ.इं.रि. 1950 सु.को. 222 में बम्बई सरकार का, प्रभावित व्यक्ति को कोई अवसर दिए बिना, लोक प्रयोजनार्थ कुछ सम्पत्ति का अधिग्रहण कर लेना प्रश्नगत किया गया. दो के मुकाबले चार के बहुमत से उच्चतम न्यायालय ने निर्णय किया कि सरकार का काम न्यायिक-कल्प नहीं है क्योंकि उसका विनिश्चय उसके निजी समाधान और विवेकाधिकार पर निर्भर करता है और उस विनिश्चय में कोई न्यायिक बात नहीं है जिससे कि वह न्यायिक या न्यायिक-कल्प हो जाए. अतः लोक प्रयोजन के विषय में प्रान्तीय सरकार का विनिश्चय प्रशासनिक कार्य है.

**श्याम लाल बनाम उत्तर प्रदेश राज्य** – आ.इं.रि. 1954 सु.को. 369 में यह निर्णय किया गया कि भारत के राष्ट्रपति का किसी अधिकारी को वैवश्यक रूप से सेवानिवृत[1] कर देने का आदेश इस आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जा सकता कि उस अधिकारी को इस बात का पूरा अवसर नहीं दिया गया कि वह अपने विरुद्ध की जाने वाली कार्रवाई के विरुद्ध कारण प्रकट करे.

किन्तु **हाईस्कूल तथा इण्टरमीडिएट शिक्षा बोर्ड बनाम घनश्याम दास गुप्ता** – आ.इं.रि. 1962 सु.को. 1110 में परीक्षार्थियों द्वारा परीक्षा के दौरान अनुचित तरीके अपनाए जाने के विषय में उच्चतम

1. compulsorily to retire.

न्यायालय ने निर्णय किया कि जहाँ परीक्षार्थी को इस बात का कोई अवसर नहीं दिया गया कि समिति के समक्ष स्पष्टीकरण दे और अपना पक्ष स्पष्ट करे वहां समिति का उसके परीक्षाफल को रद्द करने का और उसे अगली परीक्षा में बैठने से रोकने का संकल्प दूषित हो गया. उच्चतम न्यायालय ने यह भी निर्णय किया कि कानून में स्पष्टतः यह व्यवस्था होने की संभाव्यता नहीं है कि आदेश करने वाला प्राधिकारी न्यायिक तौर पर कार्य करे; किन्तु कानून के उपबन्धों का अर्थ प्रभावित अधिकारों की प्रकृति, निर्णय करने के लिए उपबन्धित ढंग, उस निर्णय से प्रभावित व्यक्ति पर उसका प्रभाव, तथा कानून द्वारा प्रकट किए गए अन्य मानदण्डों को दृष्टि में रखकर किया जाना चाहिए.

**हाईस्कूल तथा इण्टरमीडिएट शिक्षा बोर्ड बनाम कुमारी चित्रा श्रीवास्तव** – आ.इ.रि. 1970 सु.को. 1039 में बोर्ड ने ऐसे छात्र की परीक्षा रद्द कर दी थी जिसे परीक्षा में बैठने की अनुमति दे दी गई थी और जिसने सभी प्रश्नपत्रों के उत्तर दिए थे. रद्द करने का आधार यह था कि व्याख्यानों के समय उपस्थिति में कमी होने के बावजूद उसे परीक्षा में बैठने दिया गया. रद्द करने का आदेश छात्र को कारण-बताओ नोटिस दिए बिना किया गया था. उच्चतम न्यायालय ने निर्णय किया कि बोर्ड का कार्य नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों के उल्लंघन के कारण दूषित हो गया; बोर्ड परीक्षा रद्द करने में न्यायिक-कल्प कृत्यों का सम्पादन कर रहा था और उसके लिए यह आवश्यक था कि परीक्षा रद्द करने का दण्ड देने के पूर्व अभ्यर्थियों को कारण-बताओ नोटिस भेजता.

दूसरी ओर **बिहार विद्यालय परीक्षा बोर्ड बनाम सुभाष चन्द्र सिन्हा** – आ.इ.रि. 1970 सु.को. 1269 में विद्यालय परीक्षा बोर्ड ने एक परीक्षा केन्द्र की संपूर्ण परीक्षा इस कारण रद्द कर दी कि वहां अधिकांश लोगों ने अनुचित तरीके अपनाए थे, जैसा कि प्राप्त रिपोर्ट से प्रकट था. उच्चतम न्यायालय ने निर्णय किया कि ऐसे मामले में प्रत्येक छात्र को अपना पक्ष बोर्ड के समक्ष प्रस्तुत करने का अवसर

देना आवश्यक नहीं था .

**जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय बनाम बी एस. नरवल** – आ.इं.रि. 1980 सु.को. 1666 में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय किया कि विश्वविद्यालय को शक्ति प्राप्त है कि किसी छात्र को किसी पाठ्यक्रम से इस आधार पर हटा दे कि उसका विद्या-संबंधी कृत्य-सम्पादन असंतोषजनक रहा है . निर्णय यह किया गया कि प्रस्तुत मामला छात्र की शैक्षिक उपलब्धि के निर्धारण मात्र का था, जिसका मूल्यांकन विश्वविद्यालय के विहित प्राधिकारी सर्वोत्तम ढंग से कर सकते हैं और न्यायालय जिसका निर्णय करने के लिए न्यूनतम अर्हता रखते हैं . जब सम्यक् अर्हता सम्पन्न तथा सक्षम प्राधिकारियों ने छात्र के कुछ अवधि पर्यन्त कार्य की परीक्षा की व मूल्यांकन किया और उसे असंतोषप्रद घोषित किया, तो सुनवाई की कोई आवश्यकता नहीं थी .

**भारत संघ बनाम ज्योति प्रकाश मित्र** – आ.इं.रि. 1971 सु. को. 1093 में निर्णय किया गया कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की आयु का अवधारण करते समय राष्ट्रपति न्यायिक कृत्य का सम्पादन करते हैं, न कि कार्यपालक कृत्य का; अतः नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का अनुसरण किया जाना चाहिए .

व्यापार और कारबार के लाइसेन्स रद्द करने के विषय में उच्चतम न्यायालय ने एक स्वर से तथा बराबर यह निर्णय किया है कि वह कृत्य सारतः न्यायिक-कल्प है . इस प्रकार **महावीर प्रसाद बनाम उत्तर प्रदेश राज्य** – आ.इं.रि. 1970 सु.को. 1302 में उत्तर प्रदेश चीनी व्यापारी अनुज्ञापन आदेश, 1962 के अधीन लाइसेन्स रद्द करने और प्रभावित व्यक्तियों को चीनी और आटे का कारबार चलाने के अपने अधिकार से, कथित अनियमितताओं को स्पष्ट करने का अवसर दिए बिना, वंचित करने का आदेश न्यायिक-कल्प आदेश ठहराया गया और यह माना गया कि अवसर न दिए जाने के कारण वह दूषित हो गया .

**शिवपूजन राय इन्द्रासन राय लि. बनाम सीमा शुल्क कलेक्टर** –

आ.इं.रि. 1958 सु.को. 858 में उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट शब्दों में निर्णय किया कि समुद्री सीमा शुल्क अधिनियम, 1878 के अधीन अधिहरण[1] या शास्ति का आदेश वस्तुतः न्यायिक-कल्प आदेश है, न कि केवल प्रशासनिक या कार्यपालक आदेश; अतः नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का पालन किया जाना चाहिए .

**के.टी. मूपिल नैयर बनाम केरल राज्य** – आ.इं.रि. 1961 सु. को. 552 में निर्णय किया गया कि किसी व्यक्ति या सम्पत्ति पर कर का निर्धारण कम-से-कम न्यायिक-कल्प प्रकृति का तो है ही तथा प्रश्नगत त्रावणकोर-कोचीन भूमि कर अधिनियम, 1955, अन्य बातों के साथ-साथ, इस आधार पर असंवैधानिक ठहराया गया कि विहित प्रक्रिया यह अपेक्षा नहीं करती कि प्रस्थापित निर्धारिती को नोटिस दिया जाए और निर्धारक प्राधिकारी का यह कर्तव्य नहीं बनाया गया है कि निर्धारण कार्यवाही के विषय में न्यायिकतः कार्य करे .

**राजस्व बोर्ड उत्तर प्रदेश बनाम सरदारनी विद्यावती** – आ.इं. रि. 1962 सु.को. 1217 में निर्णय किया गया कि बोर्ड को चाहिए कि प्रभावित व्यक्ति को सुने, अर्थात् लिखत के निष्पादक पर स्टाम्प अधिनियम, 1899 के अधीन बड़ा आर्थिक दायित्व डालने के पूर्व उसे सुनवाई का अवसर दे .

कर विषयक मामलों के संबंध में भी **द्वारका नाथ बनाम आय कर अधिकारी** – आ.इं.रि. 1966 सु.को. 81 में निर्णय किया गया कि पुनरीक्षण के अधिकारों का प्रयोग करते समय आय कर आयुक्त प्रशासनिक हैसियत से कार्य नहीं करते; यह अधिकारिता प्रथम दृष्ट्या न्यायिक है; अतः प्रभावित पक्षकारों को अवसर दिया जाना चाहिए कि वे अपना पक्ष प्रस्तुत करें . इस अधिकारिता की प्रकृति और उसमें निर्णय किए जाने वाले अधिकार अनिवार्य रूप से इस कर्तव्य का सृजन करते हैं कि पुनरीक्षण का निर्णय न्यायिक तौर पर किया जाए .

---

1. confiscation.

**मदन गोपाल अग्रवाल बनाम जिला मजिस्ट्रेट, इलाहाबाद** – आ.इं.रि. 1972 मु.को. 2656 में निर्णय किया गया कि यद्यपि अस्थायी अधिग्रहण अधिनियम[1], 1947 की धारा 3 में यह स्पष्ट व्यवस्था नहीं है कि अधिग्रहण आदेश करने के पूर्व नोटिस जारी किया जाए और सुनवाई की जाए, किन्तु अधिनियम के उद्देश्य को देखते हुए ऐसा उपबन्ध अनिवार्य विवक्षा[2] द्वारा किया गया माना जाना चाहिए . यह भी कहा गया कि यह मानकर चलना कठिन है कि विधान-मण्डल का यह आशय था कि किसी व्यक्ति को नोटिस तथा सुनवाई का अवसर दिए बिना उसे उसके प्रिय अधिकार से वंचित कर दिया जाए .

**एर्यूशियन इक्विपमेण्ट ऐण्ड केमिकल्स लि. बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य** – आ.इं.रि. 1978 सु.को. 577 में हुआ यह कि सरकारी ठेका देने के विषय में एक व्यक्ति का नाम काली सूची में दर्ज कर दिया गया . निर्णय यह किया गया कि उसका नाम काली सूची में दर्ज किए जाने के पूर्व वह सुनवाई का हकदार था . यह भी निर्णय किया गया कि काली सूची में दर्ज करने का प्रभाव यह होता है कि व्यक्ति लाभ के प्रयोजनार्थ सरकार से विधिपूर्ण संबंध स्थापित करने के विशेषाधिकार और फायदे से वंचित हो जाता है . काली सूची में दर्ज करने के आदेश से एक निर्योग्यता का सृजन होता है . इससे प्रकट होता है कि संबद्ध प्राधिकारी का वस्तुपरक समाधान होना चाहिए . उचित कार्यप्रणाली की मूलभूत आवश्यकता यही थी कि संबंधित व्यक्ति को अवसर दिया जाता कि उसका नाम काली सूची में दर्ज किए जाने के पूर्व वह अपना पक्ष प्रस्तुत करे .

**मेनका गांधी बनाम भारत संघ** – आ.इं.रि. 1975 सु.को. 266 वाले प्रख्यात निर्णय में अर्जीदार के पासपोर्ट को परिबद्ध[3] करना प्रश्नगत किया गया . अन्य आधारों के साथ एक आधार यह था कि

---

1. Temporary Requisition Act. 2. necessary implication.
3. impound.

प्रश्नगत उपबन्ध, अर्थात् पासपोर्ट अधिनियम, 1967 की धारा 10(3)(ग), में पासपोर्ट-धारक को सुनवाई का अवसर दिए जाने का उपबन्ध नहीं है; अतः यह उपबन्ध ही असंवैधानिक है. उच्चतम न्यायालय ने निर्णय किया कि यद्यपि कानून में इस बात की स्पष्ट अपेक्षा नहीं है कि पक्षकार को सुना जाए, फिर भी परम्परागत विधि की न्याय-भावना विधान-मण्डल द्वारा छोड़ी गई बात की पूर्ति कर देगी. यह भी निर्णय दिया गया कि पासपोर्ट अधिनियम की धारा 10(3)(ग) के अधीन पासपोर्ट प्राधिकारी को दिया गया पासपोर्ट परिबद्ध करने का प्राधिकार एक न्यायिक-कल्प शक्ति है. अतः पासपोर्ट परिबद्ध करने की शक्ति के प्रयोग को नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त लागू होंगे. नैसर्गिक न्याय की प्रकृति और मूल्य पर उच्चतम न्यायालय ने कहा :

> "नैसर्गिक न्याय एक महान् मानवीयकरण का सिद्धान्त है, जिसका आशय है कि विधि में आर्जव[1] आए तथा न्याय हो. परम्परावश यह एक बहुत व्यापक नियम हो गया है, जो प्रशासनिक कार्यवाही के भी एक बड़े क्षेत्र को प्रभावित करता है."

पूछा यह जाना चाहिए : क्या कार्यवाही के आर्जव की यह मांग है कि प्रभावित व्यक्ति को सुनवाई का अवसर दिया जाए. इस मामले का एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि उच्चतम न्यायालय ने कहा कि किसी मामले की परिस्थितियों के कारण यह हो सकता है कि निर्णय के बाद में सुनवाई का अवसर मिल जाने से भी नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त की पूर्ति हो जाए. सिद्धान्त का यह विस्तार इस तर्क से निपटने के लिए किया गया कि अनुध्यात[2] कार्यवाही के पूर्व अवसर देने से उस शक्ति का उचित प्रयोग ही विफल हो जाएगा. उच्चतम न्यायालय ने निर्णय किया कि पासपोर्ट परिबद्ध करने का आदेश देने के तुरन्त बाद सुनवाई का उचित अवसर दिए जाने से नैसर्गिक न्याय

---

1. fairness.
2. contemplated.

की अपेक्षा की पूर्ति हो जाएगी और संबंधित व्यक्ति को ऐसा अवसर देने की अपेक्षा वाला उपबन्ध पासपोर्ट अधिनियम, 1967 में विवक्षित तौर पर समाविष्ट माना जाना चाहिए .

विनिश्चय के बाद सुनवाई का यह सिद्धान्त इलाहाबाद उच्च न्यायालय के पांच न्यायाधीशों के न्यायपीठ ने **कैलाश नाथ बनाम उत्तर प्रदेश राज्य** – आ.इ.रि. 1985 इला. में अंगीकार किया और अग्न्यायुध[1] का लाइसेन्स वापस लेने या निलम्बित करने के सम्बन्ध में निर्णय किया कि यदि गंभीर आत्ययिकता[2] की दृष्टि से लाइसेन्स बिना नोटिस दिए वापस लिया जाना या निलम्बित किया जाना हो तो प्रभावित व्यक्ति को सक्षम प्राधिकारी द्वारा विनिश्चय के बाद सुनवाई का अवसर दिया जाना आवश्यक है . तदनुसार निर्णय यह किया गया कि लाइसेन्स प्राधिकारी के लिए यह आवश्यक है कि लाइसेन्स रद्द करने के आदेश को तब तक अंतिम न करे जब तक कि वह प्राधिकारी व्यथित धारक को सुनकर उसकी आपत्ति का निर्णय न कर दे . निष्कर्ष यह निकाला गया कि आपत्ति मंजूर होने पर लाइसेन्स और अग्न्यायुध दोनों लाइसेन्स-धारक को वापस कर दिए जाने चाहिए .

**मोहिन्दर सिंह गिल बनाम मुख्य निर्वाचन आयुक्त** – आ.इ.रि. 1978 सु.को. 851 में प्रश्न यह था कि क्या निर्वाचन आयुक्त इस बात के लिए आबद्ध हैं कि भारत के संविधान के अनुच्छेद 324 के अधीन सम्पूर्ण निर्वाचनक्षेत्र के मतदान को रद्द करने के पूर्व प्रभावित अभ्यर्थियों को सुनवाई का अवसर दें . "हां" में उत्तर देते हुए न्यायालय ने (पृष्ठ 881 पर) कहा : "विनिश्चय करने की प्रक्रिया का आवश्यक अंग ऋजु सुनवाई है, यद्यपि वह उचित तौर पर संक्षिप्त हो सकती है . वह विचारण वाले साक्ष्य विषयक नियमों और प्ररूपिता के बिना भी ऋजु[3] हो सकती है . हां, यदि प्रभावित व्यक्ति को सूचित न किया जाए अथवा प्रस्तुत की गई बात पर विचार न

---

1. fire arm. 2. urgency. 3. fair.

किया जाए तो उसे ऋजु नहीं माना जा सकता . नैसर्गिक न्याय का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि प्रजातन्त्रात्मक विधि के शासन में न्याय की प्रक्रिया में पक्षकार का भाग होना चाहिए . यदि उसकी व्यवस्था कानून में न हो तो, जब तक कि अनिवार्य विवक्षा न हो, सुनवाई के वर्जन का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता . अनुच्छेद 324 कुछ व्यापक शक्ति निहित करता है और जब उसके प्रयोग से अभ्यर्थियों पर सीधा प्रभाव पड़े तो उसमें कृत्य विषयक उक्त बाध्यता समाविष्ट मानी जानी चाहिए ."

**स्वदेशी काटन मिल्स बनाम भारत संघ** – आ.इ.रि. 1981 सु. को. 818 [1981 उम.नि.सा. 21] में उच्चतम न्यायालय के समक्ष यह प्रश्न आया कि उद्योग (विकास और विनियमन) अधिनियम, 1951 की धारा 18-कक के अधीन अन्वेषण[1] किए बिना उपक्रम[2] ग्रहण करने के मामले में दूसरे पक्षकार को सुनने का सिद्धान्त क्या लागू नहीं होता . उच्चतम न्यायालय ने निर्णय किया कि यद्यपि उक्त धारा लागू होती है किन्तु जहां कि तुरन्त कार्रवाई आवश्यक हो वहां अन्वेषण भले ही न हो किन्तु विनिश्चय के पूर्व नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त बहिष्कृत नहीं होते . न्यायालय ने कहा :

> "दूसरे पक्षकार को भी सुनो का सिद्धान्त नमनशील तथा अनुकूलनीय धारणा है . कार्य शीघ्रतः करने की आवश्यकता के उचित ढंग से कार्य करने की बाध्यता से समायोजन एवं समन्वय के लिए उसे उपान्तरित किया जा सकता है और स्थिति की आवश्यकता के अनुसार उसे लागू करने में उसकी मात्रा में उचित कमी की जा सकती है . इस प्रकार अन्ततोगत्वा यह प्रश्न कि उचित सुनवाई का नियम निर्णय के पूर्व के स्तर पर कहां तक और कितना लागू होगा इस बात पर निर्भर करेगा कि कितनी शीघ्रता की आवश्यकता है, जो कि उस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों से प्रकट होगी ."

---

1. investigation.
2. undertaking.

अन्य ऐतिहासिक महत्त्व का निर्णय, जिसने नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों की परिधि बढ़ा दी, **एस.एल. कपूर बनाम जगमोहन** – आ. इ.रि. 1981 सु.को. 136 वाला प्रसिद्ध निर्णय है . उसमें यह बताया गया कि नगरपालिका समिति को अधिक्रान्त[1] करने में सक्षम प्राधिकारी द्वारा आदेश पारित किए जाने के पूर्व उसे अवसर दिना जाना चाहिए . यह बताया गया कि–

> "समिति की आस्थिति[2] एवं उसका पद तथा अधिकार और उत्तरदायित्व एवं पूर्ण अवधि पर्यन्त कार्य करने की प्रत्याशा से निश्चय ही नगरपालिका समिति के पर्याप्त हित का सृजन होता है तथा अधिक्रान्त होने पर ऐसे सिविल परिणाम होते हैं जिनके कारण यह आग्रह उचित हो जाता है कि अधिक्रमण का आदेश पारित करने के पूर्व नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का पालन किया जाए ."

यह बताना महत्त्वपूर्ण है कि नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त का उल्लंघन कोई अन्य बात न होने पर भी, प्रभावित व्यक्ति को पर्याप्त वाद-हेतुक[3] उपलब्ध करता है . न्यायालय ने कहा :

> "नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में यह बात नहीं आती कि वे तब लागू न हों जब उनका अनुपालन न करने से कोई अन्तर न आए . नैसर्गिक न्याय का अनुपालन न करना स्वयं ही व्यक्ति के प्रतिकूल होता है और नैसर्गिक न्याय से वंचित किए जाने के सबूत के अतिरिक्त किसी प्रतिकूल प्रभाव का सबूत अनावश्यक है . अन्याय करने वाले व्यक्ति का ही यह कहना होता है कि जिस व्यक्ति को न्याय से वंचित किया गया उसका उस पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा ."

"दूसरे पक्षकार को भी सुनो" की मूलभूत अपेक्षा पर विचार करने के उपरान्त यह आवश्यक है कि उसके विभिन्न अंगों पर विचार किया जाए . यह स्मरणीय है कि प्रभावित व्यक्ति को जिस सुनवाई

---

1. supersede. 2. status. 3. cause of action.

का अवसर दिया जाता है वह कोई औपचारिक सुनवाई नहीं है बल्कि वह प्रभावी सुनवाई होनी चाहिए . इस शब्द का क्या अर्थ है, यह समझने के लिए उच्चतम न्यायालय के विभिन्न निर्णयों को देखने के बाद हम पाते हैं कि उसके निम्नलिखित अंग होते हैं :

(क) प्रथमत: संबंधित प्राधिकारी को चाहिए कि प्रभावित व्यक्ति के लिए उचित नोटिस जारी करे और उसमें इतने पर्याप्त आधार दिए जाने चाहिए कि संबंधित पक्षकार उचित उत्तर दे सके . नोटिस की तामील संबंधित व्यक्ति पर उचित तौर पर होनी चाहिए और उसे अपना केस तैयार करने के लिए पर्याप्त समय दिया जाना चाहिए . नोटिस स्पष्ट, विनिर्दिष्ट तौर पर, दुविधारहित और पर्याप्त होना चाहिए . यह भी स्मरणीय है कि यदि किसी विशिष्ट विधि में ही नोटिस विहित हो तो वह एक अधिकारिता-विषयक बात हो जाएगी; अत: नोटिस जारी किया जाना भी अनिवार्य माना जाएगा . उदाहरणार्थ, **सी.ए.टी.ए. सेल्स कोआपरेटिव सोसाइटी लि. बनाम सचिव, खाद्य एवं कृषि विभाग, आंध्र प्रदेश सरकार** – आ.इं. रि. 1977 सु.को. 2313 में यद्यपि संबंधित सहकारी समिति ने उस विषय में एक अभ्यावेदन स्वत: दे दिया था फिर भी यह निर्णय किया गया कि उससे सरकार नोटिस जारी करने के अपने दायित्व से मुक्त नहीं हुई . न्यायालय ने निर्णय किया कि सरकार नोटिस देने की अपेक्षा की उपेक्षा नहीं कर सकती . किन्तु यदि कानून में अभिव्यक्त रूप से न कहा गया हो कि नोटिस जारी किया जाए और नोटिस केवल नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त के आधार पर हो तो प्रभावित व्यक्ति द्वारा अभ्यावेदन[1] फाइल किए जाने को यह माना जा सकता है कि उसे नोटिस मिल गया .

(ख) दूसरे, उचित सुनवाई सुनिश्चित करने के लिए यह आवश्यक है कि न्याय-निर्णयन करने वाले प्राधिकारी को वह सब सुसंगत सामग्री प्राप्त हो जो प्रभावित व्यक्ति अभिलेख में लाना

1. representation.

चाहता है . इसी प्रकार **ढाकेश्वरी काटन मिल्स लि. बनाम आय कर आयुक्त** – आ.इं.रि. 1975 सु.को. 65 में यह निर्णय किया गया कि निर्धारिती[1] अपने पक्ष के समर्थन में जो सामग्री और लेखा बहियां प्रस्तुत करना चाहता था उन सब को लेने से आय कर प्राधिकारियों द्वारा इंकार से नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का उल्लंघन हुआ .

(ग) तीसरे, उचित सुनवाई के लिए यह भी अपेक्षित है कि संबंधित प्राधिकारी वह सब जानकारी, सामग्री या साक्ष्य प्रकट कर दे जो उसके पास हो और जिसका आश्रय वह विनिश्चय करने के प्रयोजनार्थ संबंधित व्यक्ति के विरुद्ध लेना चाहता हो . उपर्युक्त मामले में यह निर्णय किया गया कि आय कर प्राधिकारियों ने न्याय के मूलभूत नियमों का इस प्रकार उल्लंघन किया कि उन्होंने निर्धारिती को विभागीय प्रतिनिधि से मिली इत्तिला की प्रकृति नहीं बताई . इसी प्रकार से **सिटी कानंर बनाम कलेक्टर के वैयक्तिक सहायक** – आ.इं.रि. 1978 सु.को. 143 में अपीलार्थी ने उसका लाइसेन्स रद्द किए जाने की बाबत कारण-बताओ नोटिस के उत्तर में उन विभिन्न दस्तावेजों की प्रतियां मांगी जिनके आधार पर कारण-बताओ नोटिस जारी किया गया था और उसने यह भी कहा कि उक्त प्रतियों के अभाव में वह सविवरण स्पष्टीकरण देने की स्थिति में नहीं है . उच्चतम न्यायालय ने निर्णय किया कि जिला मजिस्ट्रेट के, अपीलार्थी का उत्तर मिलते ही तुरन्त बहुत जल्दी में और मांगी गई प्रतियां दिए बिना, या कम-से-कम इतना बताए बिना कि पहले दी गई सामग्री ही पर्याप्त है, आदेश पारित कर देने से नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त का उल्लंघन हुआ . इसी प्रकार से **मैसर्स मार्च बिहार एजेन्सी बनाम बिहार राज्य** – आ.इं.रि. 1981 सु.को. 1758 में नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का वहां उल्लंघन माना गया जहां कि अपील स्तर पर अभिलेख में अतिरिक्त सामग्री सम्मिलित की गई, किन्तु वह अपीलार्थियों को उपलब्ध नहीं की गई . इस प्रकार प्रभावित व्यक्ति के

1. assessee.

पीठ-पीछे न्याय-निर्णायक प्राधिकारी को कोई जानकारी नहीं दी जा सकती .

(घ) चौथे, उचित सुनवाई के लिए यह भी आवश्यक है कि संबंधित व्यक्ति को अवसर दिया जाए कि जो जानकारी या सामग्री किसी व्यक्ति ने प्राधिकारी को उस व्यक्ति के विरुद्ध दी हो उसका खण्डन करे . सामान्यत: ऐसे मामले में उक्त सामग्री के विरुद्ध लिखित अभ्यावेदन दाखिल करने का अवसर पर्याप्त माना जाता है . किन्तु सरकारी सेवकों के नियोजन सम्बन्धी मामलों में या श्रम-प्रबन्ध के सम्बन्ध में चलने वाले या कानूनी निगमों के कर्मचारियों के विरुद्ध अनुशासनिक मामलों में प्रश्नगत जानकारी देने वाले व्यक्ति से जिरह करने का अधिकार प्राय: नैसर्गिक न्याय का आवश्यक अंग माना गया है . जैसा कि पहले बताया गया, यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त मामलों के अनुसार लागू किए जाते हैं और ऐसा कोई सुनिश्चित सूत्र नहीं बताया जा सकता जो सब जगह समान रूप से लागू हो .

सरकारी सेवकों के मामले में नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त भारत के संविधान के अनुच्छेद 311 में समाहित हैं . उसमें स्पष्ट तौर पर कहा गया है कि पदच्युति, हटाने या पंक्तिच्युति[1] के तीन दण्डों की बाबत संबंधित कर्मचारी को सुनवाई का उचित अवसर दिया जाना चाहिए . इस प्रकार नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त का पालन सांविधानिक आदेश बना दिया गया है . यद्यपि प्रक्रिया के तकनीकी नियम लागू नहीं होते, फिर भी नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त पूर्णत: लागू होते हैं . इस प्रकार संबंधित कर्मचारी को स्पष्ट तौर पर सूचित करना होता है कि उसके विरुद्ध आरोप क्या हैं तथा उसके विरुद्ध साक्ष्य क्या है और साक्षियों के नाम क्या हैं . संबंधित कर्मचारी को वैयक्तिक सुनवाई का अधिकार होता है और उसे यह भी अधिकार होता है कि अपने विरुद्ध साक्ष्य देने वाले साक्षियों से जिरह करे और

---

1. reduction in rank.

स्वयं अपना साक्ष्य दे . जांच अधिकारी निजी इत्तिला के आधार पर कार्य नहीं कर सकता और उसे कार्य निष्पक्ष व्यक्ति के रूप में करना चाहिए, यद्यपि वह संबंधित विभाग का ही कर्मचारी हो सकता है . जांच अधिकारी स्वयं साक्षी नहीं हो सकता; अन्यथा कार्यवाही दूषित हो जाएगी . इसके अतिरिक्त, जांच अधिकारी की रिपोर्ट भी संबंधित कर्मचारी को दी जानी चाहिए . हां! यह और बता दिया जाए कि यदि कोई जांच किसी सक्षम न्यायालय द्वारा किन्हीं तकनीकी बातों के आधार पर अभिखण्डित[1] की जाए तो विभाग इस बात का हकदार होगा कि पुनः जांच करे .

इस संबंध में यह बताना महत्त्वपूर्ण है कि संविधान के 1976 वाले बयालीसवें संशोधन के पूर्व अनुच्छेद 311 की अपेक्षा यह थी कि सरकार संबंधित कर्मचारी को उसके विरुद्ध प्रस्थापित कार्रवाई की बाबत द्वितीय अवसर दे . नैसर्गिक न्याय का यह भाग बयालीसवें संशोधन द्वारा रद्द कर दिया गया है . किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह किसी प्रकार से भी संविधान की मूल संरचना का उल्लंघनकारी माना जा सकता है . अतः संशोधन विधिमान्य माना जाना चाहिए . इससे नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों में सरकारी कर्मचारियों के संबंध में कमी हुई है .

क्योंकि नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त का यह अपवर्जन[2] स्वयं संविधान द्वारा किया गया है, अतः संबंधित कर्मचारी उसका विरोध नहीं कर सकता . किन्तु **भारत संघ बनाम तुलसी राम पटेल** – आ. इं. रि. 1985 सु.को. 1436 [1985 उम.नि.सा. 473] वाले महत्त्वपूर्ण मामले में यह बहस की गई कि उसमें नैसर्गिक न्याय का सिद्धान्त अनुच्छेद 14 के अनुसार माना जाना चाहिए . तर्क यह था कि स्वयं अनु. 311 की शब्दावली किसी जांच की अपेक्षा नहीं करती, फिर भी अनु. 14 के उपबन्धों में इस प्रकार की बात समाविष्ट मानी जानी चाहिए जो युक्तियुक्तता तथा निष्पक्षता की मांग

1. quash.
2. exclusion.

करे . किन्तु उच्चतम न्यायालय ने इस तर्क को सही तौर पर अमान्य किया . अतः अनु. 311 के द्वितीय परन्तुक के अन्तर्गत आने वाले निर्णयों में नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का पूर्ण बहिष्करण हो गया है .

नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त के संविधान द्वारा कृत उक्त अपवर्जन के अतिरिक्त भी अपवाद हैं जो नैसर्गिक न्याय के उक्त नियमों को लागू होते हैं . वे स्थितियां निम्नलिखित हैं :

(i) जैसा कि पहले बताया जा चुका है, नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का उपयोग विनिश्चय की प्रक्रिया के लिए किया जाना चाहिए, न कि विधान-मण्डल की विधि बनाने की प्रभुत्व-संपन्न शक्ति के प्रयोग के संबंध में, क्योंकि संसद् या राज्य विधान-मण्डल इस बात के लिए पूर्ण सक्षम है कि ऐसी विधि बनाए जो प्रभावित होने की सम्भाव्यता वाले किसी व्यक्ति को अवसर दिए जाने की व्यवस्था करे या न करे . यही स्थिति नियम, विनियम, और उपविधियां बनाने तथा अधिसूचनाएं निकालने की प्रत्यायोजित[1] विधायी शक्तियों के प्रयोग के संबंध में होगी .

किन्तु यदि विधान-मण्डल स्वयं आदेश दे कि उचित अवसर दिया जाना चाहिए तो उस विधान का पालन किया जाना चाहिए . उदाहरणार्थ, मोटर यान अधिनियम, 1939 की धारा 43 के अधीन राज्य सरकार किराया या भाड़ा नियत कर सकती है; किन्तु कानून में यह व्यवस्था है कि उस आशय की कोई अधिसूचना जारी करने के पूर्व सरकार को आपत्तियां आमंत्रित करनी होंगी तथा प्रभावित व्यक्तियों को सुनवाई का अवसर देना होगा . इसी प्रकार से उत्तर प्रदेश क्षेत्र समिति और जिला परिषद् अधिनियम, 1961 के अधीन कर लगाने के पूर्व आपत्तियां आमंत्रित की जानी हैं . ऐसे मामलों में विहित प्रक्रिया का पालन अनिवार्य है .

(ii) नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त कानून द्वारा अपवर्जित किए जा सकते हैं. दूसरे शब्दों में, यदि नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का लागू होना किसी कानून में स्पष्ट शब्दों में या अनिवार्य विवक्षा[2] द्वारा

1. delegated.
2. necessary implication.

वर्जित हो तो उस सीमा तक वे सिद्धान्त लागू नहीं होंगे. उदाहरणार्थ, **भारत संघ बनाम जे.एन. सिन्हा** – आ.इं.रि. 1971 सु.को. 40 में प्रत्यर्थी की वैधश्यक सेवानिवृत्ति[1] को इस आधार पर चुनौती दी गई कि उसे कोई अवसर नहीं दिया गया, अतः आदेश नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों के उल्लंघन के कारण दूषित हो गया. उच्चतम न्यायालय ने इस तर्क को यह कहकर अमान्य कर दिया कि नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त उस क्षेत्र में लागू होंगे जिसमें विधितः बनाई गई विधि न हो. उच्चतम न्यायालय ने कहा :

> "नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त अधिनियमित नियम नहीं होते, और न उन्हें मूल अधिकारों वाला दर्जा दिया जा सकता है. उनका उद्देश्य न्याय प्राप्त कराना और न्याय की विफलता को रोकना होता है. ये सिद्धान्त विधिपूर्वक बनाई गई विधि के अन्तर्गत न आने वाले क्षेत्र में ही लागू होते हैं; वे विधि का स्थान न लेकर उसके अनुपूरक होते हैं. यदि कोई कानूनी उपबन्ध नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों से सुसंगतता बनाए रखते हुए पढ़ा जा सके तो न्यायालय को वैसा ही करना चाहिए; किन्तु यदि कोई कानूनी उपबन्ध विनिर्दिष्ट तौर पर या अनिवार्य विवक्षा द्वारा नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का अपवर्जन कर दे तो न्यायालय विधायकों के या कानूनी प्राधिकारियों के आदेश की उपेक्षा नहीं कर सकता और संबंधित उपबन्ध में नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त शामिल नहीं कर सकता. प्रदत्त शक्ति का प्रयोग नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों के अनुसार किया जाना चाहिए या नहीं, यह निर्भर करता है शक्ति-प्रदायी कानून की शब्दावली पर, उस प्रदत्त शक्ति की प्रकृति पर और उस उद्देश्य पर जिसके लिए वह दी गई, तथा उस शक्ति के प्रयोग के प्रभाव पर."

किंतु लगता यह है कि उच्चतम न्यायालय के तुलसी राम पटेल वाले

---

1. compulsory retirement.

उपर्युक्त निर्णय को देखते हुए इस निर्णय पर पुनर्विचार की आवश्यकता होगी . तुलसी राम पटेल वाले निर्णय में कहा गया :

"नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त अनुच्छेद 14 द्वारा दी गई गारण्टी के भाग मान लिए गए हैं क्योंकि उस अनुच्छेद की विषयभूत समानता की धारणा को उच्चतम न्यायालय ने नया और प्रगतिशील अर्थ प्रदान किया है . राज्य के कार्य द्वारा नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त का उल्लंघन अनुच्छेद 14 का उल्लंघन है ."

"14. यद्यपि नैसर्गिक न्याय के दो सिद्धान्तों का, अर्थात् कि कोई व्यक्ति अपने मामले में निर्णायक नहीं हो सकता तथा दूसरे पक्षकार को भी सुनो का, विधि में एक निश्चित अर्थ और भाव हो गया है और उनकी विषयवस्तु भली भांति समझ ली गई है और सुप्रतिष्ठित हो गई है . फिर भी, वे कानून के नियम नहीं हैं . इनमें से प्रत्येक सिद्धान्त विभिन्न स्थितियों एवं उनकी आवश्यकता के अनुसार घटता-बढ़ता और बदलता रहता है . नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त उपान्तरित[1] तो किए ही जा सकते हैं; किन्तु आपवादिक[2] मामलों में वे अपवर्जित[3] भी किए जा सकते हैं ."

(iii) नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त आपात या अत्यन्त आवश्यक मामलों में विधित: अपवर्जित किए जा सकते हैं, उदाहरणार्थ, आग बुझाने की दृष्टि से भवनों को गिराने के लिए, अथवा संसर्गज रोग फैलाने वाले पौधे या पशु नष्ट करने के लिए, या अस्वास्थ्यकर भोजन नष्ट करने के लिए, या अश्लील सामग्री के समपहरण के लिए किसी नोटिस की आवश्यकता नहीं होगी . ऐसे मामलों में शीघ्रता और सुनवाई के प्रतिस्पर्धी दावों के बीच संतुलन करना होता है . इन मामलों में सुनवाई का अवसर देना संभव नहीं होता क्योंकि प्रशासनिक कार्यवाही अति शीघ्रता से करने की आवश्यकता होती है; किन्तु

1. altered. 2. exceptional. 3. excluded.

अनेक ऐसे मामलों में विनिश्चय के बाद सुनवाई के अवसर का रोचक प्रश्न स्वभावतः उठेगा .

(iv) सरकारी सेवक की सेवा-समाप्ति की बाबत उच्चतम न्यायालय ने **पुरुषोत्तम लाल धींगरा बनाम भारत संघ** – आ.इं.रि. 1965 सु.को. 36 वाले अग्रणी निर्णय में पहले ही निर्णय कर दिया है कि नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का पालन अस्थायी कर्मचारी, तदर्थ कर्मचारी, या परिवीक्षाधीन कर्मचारी के संबंध में उस दशा में नहीं किया जाना है जब उसकी सेवाएं उस पर कोई कलंक लगाए बिना समाप्त की जाएं . किन्तु यह और बता दिया जाए कि अस्थायी कर्मचारी के मामले में भी यदि वेतन, भत्तों या सेवा-काल का समपहरण करना हो तो नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का पालन करना हो सकता है, भले ही वह अनु. 311 के अधीन न हो .

(v) अंत में, नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त करार की शर्तों में शामिल विषय के संबंध में लागू नहीं होते . उदाहरणार्थ, **मेसर्स रुप कृष्ण अग्रवाल बनाम बिहार राज्य** – आ.इं.रि. 1977 सु.को. 1496 में राज्य के अधिकारी संविदा के पक्षकारों के बीच हुए करार के अनुसार संविदा समाप्त करना चाहते थे, तो नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त अपवर्जित माने गए . उच्चतम न्यायालय ने निर्णय किया :

> "नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों द्वारा आरोपित सीमाएं उन व्यक्तियों को लागू नहीं होतीं, जो करार की शर्तों द्वारा पूर्णतः शासित हों . ऐसे मामलों में एकमात्र प्रश्न यह उठता है कि परिवादित कार्य करार की शर्तों के अनुसार है या नहीं."

इसी प्रकार से, **पंजाब राज्य बनाम अजुध्या नाथ** – आ.इं.रि 1981 सु.को. 1374 [1981 उम.नि.सा. 241] में यह निर्णय किया गया कि सुनवाई का अवसर देने की आवश्यकता उस दशा में नहीं थी जबकि भट्ठी-शीर्ष[1] शुल्क की राशि की अदायगी की मांग की गई थी, जो कि लाइसेंसधारक द्वारा स्वयं स्वीकार की गई संविदा

1. still-head.

के अधीन देय हो गई थी.

नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों के अपवादों पर विचार करने के बाद अब हम नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों के उल्लंघन के प्रभाव पर विचार करें. **ए वी. वेंकटेश्वरन बनाम रामचन्द्र शोभराज वधवानी** – आ.इं.रि 1961 सु. को. 1506 में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय किया कि नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का उल्लंघन करके दिया गया आदेश शून्य या अस्तित्वहीन माना जाना चाहिए . वस्तुतः न्यायालय ने यहां तक कहा है कि नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का उल्लंघन होने पर कानून द्वारा उपबन्धित अनुकल्पी उपचार[1] भी पर्याप्त अनुकल्पी उपचार नहीं माना जा सकता और प्रभावित व्यक्ति अपनी व्यथा के निवारण के लिए उच्च न्यायालय की शरण लेने के लिए स्वतन्त्र है .

अब तक हमने नैसर्गिक न्याय के दो सिद्धान्तों में से एक पर विचार किया, अर्थात् कि "दूसरे पक्षकार को भी सुनो" . अब हम दूसरे सिद्धान्त की ओर ध्यान दें कि "कोई व्यक्ति अपने मामले में निर्णायक नहीं हो सकता" . मूलभूत भाव यह है कि न्याय वस्तुतः किए जाने के अतिरिक्त यह प्रकट भी होना चाहिए कि न्याय किया गया . न्यायिक प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग यह है कि न्यायाधीश निष्पक्ष हो और ऐसी स्थिति में हो कि अपने समक्ष के विवाद पर वस्तुपरक[2] दृष्टिकोण अपना सके . किन्तु व्यक्ति की मनःस्थिति साबित करना कठिन होता है . अतः वास्तविक प्रश्न यह नहीं होता कि क्या न्यायाधीश या न्यायनिर्णेता पूर्वगृहीत[3] है; बल्कि देखना यह होता है कि क्या यह मानने के लिए उचित आधार है कि उसके पूर्वगृहीत होने की संभाव्यता है . पूर्वग्रह के प्रश्न का विनिश्चय करने में व्यक्ति को मानवीय अधिसंभाव्यताओं[4] और मानवीय आचरण के सामान्य क्रम का ध्यान रखना होता है – आ.इं.रि. 1970 सु.को. 150 (क्रैपक का मामला) . पूर्वग्रह तीन प्रकार का होता है :

---

1. alternative remedy.
2. objective.
3. biased.
4. probabilities.

(1) **आर्थिक पूर्वग्रह** – यह सुप्रतिष्ठित विधि है कि यदि किसी न्यायाधीश या न्यायनिर्णेता का विवाद की विषय-वस्तु में निजी हित हो तो वह हित चाहे जितना छोटा या नगण्य हो उससे वह न्यायाधीश या न्याय-निर्णेता के रूप में कार्य करने के लिए निरर्हित हो जाता है. वस्तुतः **जीजीभाई बनाम सहायक कलेक्टर, थाना** – आ. इं. रि. 1965 सु. को. 1096 में यह आपत्ति की गई कि जो भारत के मुख्य न्यायाधिपति न्यायपीठ के सदस्य हैं वे उस मामले को न सुनें क्योंकि उस सहकारी समिति के सदस्य होने के कारण जिसके लिए भूमि अर्जित की गई उनका मुकदमे की विषय-वस्तु में आर्थिक या स्वामित्व वाला हित है. आपत्ति को मान्य ठहराया गया और मुख्य न्यायाधिपति ने बेंच से अपने को हटाते हुए उसे पुनर्गठित कर दिया. इस प्रकार यह संदेह-रहित ढंग से साबित हो जाता है कि नैसर्गिक न्याय का सिद्धान्त उच्चतम न्यायिक अधिकारी को उसी भाँति लागू होता है जैसे कि निम्नतम व्यक्ति को.

किन्तु इस बात पर जोर दिया जाना चाहिए कि यह सिद्धान्त भी आवश्यकता के सिद्धान्त के अधीन रहते हुए है. उदाहरणार्थ, यदि उच्च न्यायालय के सभी न्यायाधीशों का अवमान किया जाए तो उसे सुनने वाला न्यायाधीश निश्चय ही अपना मामला सुन रहा होगा. उसी प्रकार से यदि बैंकों के राष्ट्रीयकरण की स्कीम को उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी गई हो और उच्चतम न्यायालय के सभी न्यायाधीश उस बैंक के शेयर-धारक हों तो वे उस अर्जी को सुनने से इंकार नहीं कर सकते क्योंकि उस मामले की सुनवाई उनमें से ही किन्हीं को करनी है.

(2) **व्यक्तिगत पूर्वग्रह** – यह संभव है कि न्यायनिर्णेता या न्यायाधीश विभिन्न परिस्थितियों के कारण किसी पक्षकार का मित्र या संबंधी हो, या उनके परस्पर कारबारी या वृत्तिक[1] संबंध हों, या उनमें परस्पर शत्रुता या विरोध हो. उस मामले का निर्णय करते

---

1. professional.

समय उक्त बातें निर्णेता के विरुद्ध अवश्य पड़ेंगी और उसे न्यायनिर्णेता बनने के लिए निरर्हित करेंगी. उदाहरणार्थ, **मीनग्लास चाय बागान बनाम कर्मकार** – आ.इं.रि. 1963 सु.को. 1719 में दोषी कर्मकारों के विरुद्ध जांच उन अधिकारियों में से ही एक ने की जिन पर हमला किया गया था. उच्चतम न्यायालय ने निर्णय किया कि उससे नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों की अवहेलना हुई और संपूर्ण जांच दूषित हो गई. उसी प्रकार से, **डा. एस.पी. कपूर बनाम हिमाचल प्रदेश राज्य** – आ.इं.रि. 1981 सु.को. 2181 [1981 उम.नि.सा. 485] में ऐसे डाक्टर द्वारा प्रस्तुत गोपनीय टिप्पणियां विभागीय प्रोन्नति समिति द्वारा विचार में ली गई जो कि स्वयं भी उस पदोन्नति के पद के लिए उम्मीदवार था. निर्णय यह किया गया कि विभागीय प्रोन्नति समिति के लिए यह उचित नहीं था कि ऐसी टिप्पणियों को विचार में ले.

इसी प्रकार से **झंपक** के प्रसिद्ध मामले में चयन बोर्ड का एक सदस्य स्वयं चयन के लिए अभ्यर्थी था. अतः वह कार्यवाही दूषित मानी गई. यद्यपि उस सदस्य ने बोर्ड के विचार-विमर्श में अपने चयन के समय भाग नहीं लिया; किन्तु अन्य अभ्यर्थियों के चयन में भाग लिया था, जिनमें उसके प्रतिस्पर्धी अभ्यर्थी भी थे.

**अधित्यजन**[1] – इस सिद्धान्त का एक अपवाद भी है. **डा. जी. सरन बनाम लखनऊ विश्वविद्यालय** – आ. इ. रि. 1976 सु. को. 2428 में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय किया कि जब कोई अभ्यर्थी चयन समिति के सदस्यों की बाबत सभी सुसंगत तथ्य जानते हुए स्वेच्छा से तथा चयन बोर्ड के गठन पर किसी प्रकार की आपत्ति किए बिना साक्षात्कार के लिए उपस्थित हुआ और उसने उस अवसर का उपयोग किया कि संभव है कि उसके अनुकूल सिफारिश हो जाए, तो बोर्ड का विनिश्चय उसके विरुद्ध होने पर उसके लिए यह अनुमत नहीं है कि वह पलट कर उसके गठन को प्रश्नगत करे.

---

1. waiver.

(3) **विषय-वस्तु विषयक पूर्वग्रह अथवा नीति विषयक पूर्वग्रह** – यह स्वाभाविक है कि प्रशासनिक निर्णेता विशिष्ट प्रकार से प्रशिक्षित होते हैं तथा वे प्रशासनतंत्र के अभिन्न अंग होते हैं . यह अधिसंभाव्य है कि वे कुछ विषयों में पदीय या नीति-विषयक पूर्वग्रह से ग्रस्त हों . प्रशासनिक निर्णेता नीति संबंधी प्रश्नों के संबंध में उस प्रकार की निष्पक्षता और निःसंगता विकसित नहीं कर सकता जैसी कि न्यायाधीश के लिए संभव है . किन्तु यदि निर्णेता प्राधिकारी और विवाद की विषयवस्तु में बहुत घनिष्ठ और सीधा सम्बन्ध हो तो वह प्राधिकारी निरर्हित हो जाएगा . उदाहरणार्थ, **गुल्लापल्ली नागेश्वर राव बनाम आन्ध्र प्रदेश राज्य सड़क परिवहन निगम** – आ. इं. रि. 1959 सु. को. 308 वाले महत्त्वपूर्ण निर्णय में विभाग के सचिव ने स्वयं कुछ मार्गों के विषय में एक स्कीम बनाई और फिर आपत्तियां मांगी . उच्चतम न्यायालय ने ठीक ही निर्णय किया कि उसी सचिव के लिए यह संभव नहीं है कि पहले तो स्कीम तैयार करे और फिर अन्य व्यक्तियों द्वारा उस स्कीम की बाबत की गई आपत्तियों पर विचार करे . इसी प्रकार से, यदि किसी मामले का निर्णय किसी अधिकारी द्वारा किया जा चुका हो तो वही अधिकारी उस मामले का निर्णय भिन्न हैसियत से, उदाहरणार्थ, अपील या पुनरीक्षण प्राधिकारी के रूप में, नहीं कर सकता . दूसरे शब्दों में, कोई प्राधिकारी पुनः सुनवाई करके स्वयं अपने निर्णय की विधिमान्यता का विनिश्चय नहीं कर सकता, भले ही वह प्राधिकारी इस बीच पदोन्नत हो गया हो .

**ऊपर से आदेश** – इसी प्रकार से, यह सम्भव है कि कानून किसी बात का विनिश्चय करने की शक्ति एक प्राधिकारी को प्रदान करे, किन्तु उस प्राधिकारी के विवेकाधिकार पर किसी वरिष्ठ प्राधिकारी का नियंत्रण हो . ऐसी दशा में यदि निर्णय वरिष्ठ प्राधिकारी के निदेश के अनुसार हो तो वह दूषित हो गया समझा जाएगा . उदाहरणार्थ, **महादयाल प्रेमचन्द्र बनाम वाणिज्यिक कर अधिकारी** – आ.इं.रि. 1970 सु.को. 667 में वाणिज्यिक कर अधिकारी ने स्वयं अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करने की बजाय सहायक आयुक्त से

अनुदेश चाहे और उन्हीं अनुदेशों के अनुसार विनिश्चय कर दिया. उच्चतम न्यायालय ने इस स्थिति के प्रति गंभीर रुख अपनाते हुए कहा :

> "जिस प्रकार प्रथम प्रत्यर्थी ने निर्धारण के मामले में कार्रवाई की उस पर हमें वास्तविक आश्चर्य है. यह स्पष्ट है कि उन्होंने उस मामले में स्वयं अपने विवेकाधिकार का उपयोग नहीं किया और सहायक आयुक्त द्वारा दिए गए अनुदेश का निष्ठापूर्वक अनुसरण किया तथा अपीलार्थियों को इस बात का भी अवसर नहीं दिया कि वे अपने विरुद्ध कही गई बातों का उत्तर दें. कम-से-कम इतना तो कहा ही जा सकता है कि सारी प्रक्रिया नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों के प्रतिकूल थी. अपनाई गई सम्पूर्ण प्रक्रिया अनुचित थी और उस प्रकार की थी जिससे संबंधित विक्रय कर विभाग के निष्पक्ष और उचित प्रशासन में जन-आस्था घटे."

इसी प्रकार से **परताबपुर कम्पनी लि. बनाम गन्ना आयुक्त, बिहार** – आ.इ.रि. 1970 सु.को. 1896 में यह निर्णय किया गया कि यदि किसी कानून के अधीन गन्ना आयुक्त को कुछ शक्तियां प्रदान की जाएं तो उन्हें मुख्यमंत्री भी नहीं हथिया सकते तथा यदि आदेश वस्तुतः मुख्यमंत्री द्वारा किए गए तो वे अविधिमान्य होंगे, भले ही वे गन्ना आयुक्त के नाम से किए गए हों. यह भी निर्णय किया गया कि गन्ना आयुक्त के कृत्यों में मुख्यमंत्री द्वारा यह हस्तक्षेप उचित नहीं था.

**उपसंहार** – नैसर्गिक न्याय के इन दो सिद्धान्तों पर इस चर्चा के उपरान्त यह निष्कर्ष निःशंक निकाला जा सकता है कि प्रशासनिक प्राधिकारियों और निकायों के विनिश्चयों के संबंध में उन्हें लागू करने में उच्चतम न्यायालय ने बहुत प्रबुद्ध दृष्टिकोण अपनाया है. उच्चतम न्यायालय ने उन्हें प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों के अनुसार अनुकूलित किया है और यह सही निर्णय किया है कि नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त किसी विशिष्ट सांचे में गढ़े नहीं हो सकते

और वे मामले के अनुसार बदलते रहते हैं. उच्चतम न्यायालय ने प्रशासनिक निकायों और प्राधिकारियों के विनिश्चयों के संबंध में प्रशासन की आवश्यकताओं और व्यक्ति के न्यूनतम अधिकारों के बीच सही संतुलन किया है. हमारे देश में प्रशासनिक विधि में हो रहे विकास के साथ-साथ नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त लागू करने के लिए नई स्थितियां और क्षेत्र उत्पन्न हो सकते हैं और आशा है कि न्यायालय उस आशा की पूर्ति कर सकेंगे और इन सिद्धान्तों को जन-सामान्य के हित में उदारता से लागू करते रहेंगे.

-[उत्तर प्रदेश न्यायिक प्रशिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान में वार्ता से]

---

वही पूर्वग्रह व्यक्ति को न्याय-कार्य के लिए अनुपयुक्त बनाता है जो ऐसे युक्तिमान् व्यक्ति की तर्कसंगत आशंका पर आधारित हो जिसे तथ्यों की पूरी जानकारी हो. निर्णय मूर्खों, सनकियों या युक्तिविहीन व्यक्तियों के संदेह के आधार पर विखंडित नहीं किए जा सकते.

Bias which disqualifies one to discharge judicial function must be based on the reasonable apprehension of a reasonable man fully apprised of the facts... .It is not possible to quash decisions on the strength of suspicion of fools or other capricious and unreasonable people.

- Prof. De Smith in Judicial Review of Administrative Action.

---

# दाण्डिक मामलों में साक्ष्य का मूल्यांकन

– न्यायमूर्ति श्री मिर्जा मोहम्मद मुर्तजा हुसैन
लोकायुक्त, उत्तर प्रदेश

अंग्रेजी भाषा में साक्ष्य के लिए evidence शब्द का प्रयोग होता है, जिसका अर्थ होता है स्पष्टत: प्रकट करना, स्पष्टत: दृष्टिगम्य करना, स्पष्टत: पता लगाना, स्पष्ट एवं निश्चित रूप से विनिश्चित करना, साबित करना . उससे किसी तथ्य को साबित करने वाली सभी सामग्री भी अभिप्रेत होती है . विधि के क्षेत्र में उससे वे सभी अनुमत साधन अभिप्रेत होते हैं जिनसे कोई ऐसा तथ्य, जिसकी सत्यता का अन्वेषण हो रहा हो, सिद्ध या असिद्ध होता है . वे साधन मौखिक हो सकते हैं या दस्तावेजी; प्रत्यक्ष हो सकते हैं या पारिस्थितिक[1] . वह साक्ष्य सामान्य जन का बयान हो सकता है या विशेषज्ञ की राय . समर्थन में कोई साक्ष्य आए बिना कोई न्यायिक विनिश्चय नहीं हो सकता . साक्ष्य का आधार हुए बिना कोई भी निर्णय स्वच्छन्द उक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं होगा . इस प्रकार साक्ष्य विधि एक प्रकार की प्रक्रियात्मक विधि होती है जिसके द्वारा विधिक कार्यवाही के संचालन का विनियमन होता है, जिससे कि सही विनिश्चय पर पहुंचा जा सके . यह विधि भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 में दी गई है, जो सभी न्यायिक कार्यवाहियों को लागू होता है .

भारतीय साक्ष्य अधिनियम पारित होने के पूर्व भारत के प्रेसिडेन्सी नगरों में न्यायालय अंग्रेजी साक्ष्य विधि के नियमों का अनुसरण करते थे . मुफस्सिल में ब्रिटिश न्यायालय भी कुछ समय तक मुस्लिम विधि का अनुसरण करते रहे; किन्तु बाद में साक्ष्य के सिद्धान्त विषयक अनेक विनियम मुफस्सिल न्यायालयों के मार्ग-दर्शन के लिए पारित किए गए . 1855 के अधिनियम सं. 2 ने आंशिक

---

1. circumstantial.

साक्ष्य विधि की एक संहिता बनाई . किन्तु उससे मुफस्सिल न्यायालयों में प्रचलित पद्धति प्रभावित नहीं हुई . 1868 में श्री मेन ने साक्ष्य विषयक विधि के विधेयक का एक प्रारूप बनाया; किन्तु वह देश के लिए अनुपयुक्त मानकर छोड़ दिया गया . 1871 में श्री स्टीफन ने एक नया प्रारूप तैयार किया, जो 1872 के अधिनियम सं. 1 के रूप में पारित हुआ .

साक्ष्य अधिनियम का उद्देश्य यह है कि साक्ष्य ग्रहण करने के विषय में ढीलेपन को रोका जाए और पहले की अपेक्षा अधिक सही और एकरूप पद्धति अपनाई जाए . इस अधिनियम में समाविष्ट मुख्य विधि-सिद्धान्त हैं–

1. साक्ष्य विवादग्रस्त विषय तक सीमित होना चाहिए;
2. अनुश्रुत साक्ष्य[1] सामान्यतः ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए; और
3. सभी मामलों में सर्वश्रेष्ठ साक्ष्य दिया जाना चाहिए .

साक्ष्य अधिनियम की धारा 3 में "साक्ष्य" की परिभाषा इस प्रकार दी गई है :

"साक्ष्य" शब्द से अभिप्रेत है और उसके अन्तर्गत आते हैं-

(1) वे सभी कथन जिनको जांचाधीन तथ्य के विषयों के सम्बन्ध में न्यायालय अपने सामने साक्षियों द्वारा किए जाने की अनुज्ञा देता है या अपेक्षा करता है;
ऐसे कथन मौखिक साक्ष्य कहलाते हैं;

(2) न्यायालय के निरीक्षण के लिए पेश की गई सब दस्तावेजें;
ऐसी दस्तावेजें दस्तावेजी साक्ष्य कहलाती हैं .

इस परिभाषा में केवल दो बातें आती हैं : (क) साक्षियों के बयान; (ख) दस्तावेजी साक्ष्य . इसमें उन सभी बातों का उल्लेख नहीं है जो न्यायालय के समक्ष होती हैं . साबित करने के साधन और

---

1. hearsay evidence.

भी होते हैं, जैसे पक्षकारों के बयान, स्थानीय अन्वेषण के परिणाम, वे तथ्य जिनको न्यायालय उपधारणा या न्यायिक अवेक्षा[2] कर सकता है और कोई स्थावर[3] या जंगम[4] सम्पत्ति जिसका निरीक्षण विवादित प्रश्न के अवधारण के लिए महत्त्वपूर्ण हो, जैसे हथियार, औजार अथवा कोई सम्पत्ति जिसके विषय में अपराध किया गया हो. अतः व्यावहारिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि "साक्ष्य" से वह सब सुसंगत और ग्राह्य सामग्री अभिप्रेत होती है जो इस निष्कर्ष पर पहुंचने का स्वस्थ आधार बन सके कि जिस तथ्य पर न्यायालय में विचार हो रहा है वह साबित हुआ या नहीं.

"साबित" शब्द की परिभाषा साक्ष्य अधिनियम की धारा 3 में दी गई है :

> "कोई तथ्य साबित हुआ कहा जाता है, जब न्यायालय अपने समक्ष के विषयों पर विचार करने के पश्चात् या तो यह विश्वास करे कि उस तथ्य का अस्तित्व है, या उसके अस्तित्व को इतना अधिसम्भाव्य[5] समझे कि उस विशिष्ट मामले की परिस्थितियों में किसी प्रज्ञावान् व्यक्ति[6] को इस अनुमान पर कार्य करना चाहिए कि उस तथ्य का अस्तित्व है."

इस प्रकार "सबूत" से अभिप्रेत है वह कोई भी वस्तु जिससे कि किसी तथ्य या प्रतिपादना की सत्यता या असत्यता के बारे में मस्तिष्क को सीधे या गौण रूप से विश्वास होता है. तथ्य-विषयक बातों का सबूत प्रायः हमारी इन्द्रियां होती हैं और होते हैं साक्षियों के बयान और दस्तावेज, आदि. उक्त परिभाषा से यह भी स्पष्ट है कि किसी तथ्य को "साबित" करने से यह अभिप्रेत नहीं होता है कि वह गणित की भांति पूर्णतः और प्रत्यक्षतः सिद्ध हो, क्योंकि मानव व्यवहार में प्रत्येक वस्तु गणित वाली निश्चितता से साबित नहीं की जा सकती, अतः परिभाषा अधिसम्भाव्यता पर केन्द्रित है. वह केवल इतनी

---

1. presumption. 2. judicial notice. 3. immoveable.
4. moveable. 5. probable. 6. man of prudence.

एक प्रज्ञावान् व्यक्ति को साबित किए जाने वाले तथ्य के अस्तित्व के अधिसंभाव्य होने के बारे में विश्वास करने को प्रेरित करे .

सामान्यतः साक्ष्य की सुसंगतता[1] और ग्राह्यता[2] विषयक नियम सिविल और दाण्डिक कार्यवाहियों के लिए एक ही हैं तथा राज्य और नागरिक, अभियोजक और अभियुक्त, वादी और प्रतिवादी, वकील और मुवक्किल को समान रूप से आबद्ध करते हैं . किन्तु कुछ अपवाद भी हैं, उदाहरणार्थ, विबन्ध[3] का सिद्धान्त (साक्ष्य अधिनियम की धारा 115) केवल सिविल कार्यवाही को लागू होता है . संस्वीकृति[4] (साक्ष्य अधिनियम की धारा 24 से 30 तक), न्यायालय के समक्ष उपस्थित होने वाले व्यक्तियों के शील (चरित्र) (साक्ष्य अधिनियम की धारा 53 और 54) तथा पक्षकारों को साक्षियों के रूप में अयोग्यता (साक्ष्य अधिनियम की धारा 120) विषयक उपबन्ध केवल दाण्डिक कार्यवाहियों के लिए ही हैं .

दाण्डिक मामलों में सबूत का भार सदैव अभियोजन पर रहता है, जबकि सिविल कार्यवाहियों में सबूत का भार बदलता रहता है . दाण्डिक मामले में अभियुक्त का यह दायित्व नहीं होता कि अपनी निर्दोषिता साबित करे, या अपनी सफाई में साक्ष्य पेश करे, या कोई बयान दे . किन्तु न्यायालय को यह अनुमत है कि धारा 313 दं.प्र.सं. के अधीन लिये गए उसके बिना शपथ के बयान से उचित निष्कर्ष निकाले, तथा यदि वह धारा 315 दं.प्र.सं. के अधीन सशपथ बयान दे तो उसका भी आश्रय ले .

जिन मामलों में अभियुक्त विशेष अभिवाक्[5] करे या किसी अपवाद का आश्रय ले, उनमें भी उस पर सबूत का भार उतना नहीं होता जितना कि अभियोजन पर अपना पक्ष साबित करने का होता है . यदि अभियुक्त यह दिखाने में सफल हो जाए कि उसके अभिवचन वाली बात अधिसंभाव्य[6] है तो यह समझा जाता है कि उसने

---

1. relevancy. 2. admissibility. 3. estoppel.
4. confession. 5. special plea. 6. probable.

अपने भार का निर्वहन कर दिया .

दाण्डिक मामले में यह न्यायालय का दायित्व होता है कि अभियुक्त के दोषी होने के प्रश्न का निर्णय करे तथा न्याय सुनिश्चित करने की दृष्टि से सभी सुसंगत साक्ष्य अभिलेख में ले आए . सिविल मामलों में यह पक्षकारों का कर्तव्य होता है कि वे अपना-अपना पक्ष, जैसे ठीक समझें, न्यायालय के समक्ष पेश करें :

अपराध से आरोपित व्यक्तियों के दोषी होने-न-होने के गंभीर प्रश्न पर विचार करते समय अधिकरणों को निम्नलिखित सामान्य नियमों से मार्गदर्शित होना चाहिए :-

(1) अभियुक्त के विरुद्ध आरोप सिद्ध करने के लिए आवश्यक प्रत्येक बात साबित करने का भार अभियोजन पर होता है;

(2) साक्ष्य ऐसा होना चाहिए जो अभियुक्त के दोषी होने में प्रत्येक उचित संदेह को मनोवैज्ञानिक निश्चितता[1] की मात्रा तक वर्जित कर दे;

(3) संदेह के मामलों में अभियुक्त को दोषमुक्त कर देना बेहतर है क्योंकि एक निर्दोष व्यक्ति के दण्डित किए जाने की अपेक्षा अनेक दोषी व्यक्तियों का बच जाना बेहतर है;

(4) अपराध के सभी अंगों (अपराध के सार) का स्पष्ट और दुविधा-रहित सबूत होना चाहिए;

(5) दोषी होने का निष्कर्ष साबित किए गए सभी बयानों से संगत होना चाहिए .

पारिस्थितिक साक्ष्य पर निर्भर मामलों में दण्डित कराने वाले तथ्य

---

1. moral certainty.

अपेक्षा करती है कि अभिलेख में सामग्री ऐसी होनी चाहिए जो कि अभियुक्त की निर्दोषिता से असंगत हो और जिससे अभियुक्त के दोषी होने से भिन्न कोई अन्य उचित निष्कर्ष न निकाला जा सके. जो पारिस्थितिक साक्ष्य अभियुक्त के विरुद्ध गंभीर शंका तक तो पहुंचा सके किन्तु अभियुक्त के विरुद्ध निश्चायक सबूत[1] की कोटि में न आए उस पर दोषसिद्धि नहीं टिक सकती. जब अभियुक्त की दोषिता और निर्दोषिता समान रूप से संभाव्य हों तो उसे अपराध का दोषी नहीं ठहराया जा सकता.

सिविल मामलों में प्रायः कुछ दस्तावेजी साक्ष्य उपलब्ध होता है, जो विवाद का निर्णायक होता है. किन्तु दाण्डिक मामलों के तथ्य अधिकांशतः मौखिक साक्ष्य पर निर्भर करते हैं. प्रत्येक मामले के अपने तथ्य और परिस्थितियां होती हैं, जिन्हें न्यायालय अभिलेख के साक्ष्य का मूल्यांकन करते समय महत्त्व देता है. साक्षियों का कहां तक विश्वास किया जाए, यह बात प्रक्रिया के नियमों से नियमित नहीं होती. निर्णीत मामले भी इसमें सहायक नहीं हो सकते. कोई पूर्व निर्णय साक्ष्य की ग्राह्यता अथवा साक्ष्य के विशिष्ट नियमों की प्रयोज्यता जैसे विधिक प्रश्नों पर तो न्यायालय का मार्गदर्शन कर सकता है; किन्तु तथ्य के प्रश्नों पर नहीं. इस लिए न्यायालयों ने इस बात पर जोर दिया है कि–

> "साक्ष्य का मूल्यांकन ऐसी परिवर्तनशील और असतत बातों पर निर्भर करता है जैसे कि मानव प्रकृति. अतः उसे सूत्रबद्ध नहीं किया जा सकता. प्रत्येक मामले का निर्णय उसकी अपनी परिस्थितियों को समग्र रूप से लेकर किया जाना चाहिए. इस दृष्टि से देखने पर ऐसे कारण हो सकते हैं जो कि साक्षियों में विश्वास उत्पन्न करें, भले ही वे पेश करने वाले पक्षकार के पक्षपाती प्रकट हों तथा दूसरे पक्षकार के विरुद्ध, और भले ही उस समय

1. conclusive evidence.

उपस्थित अन्य व्यक्ति पेश न किए गए हों . दूसरी ओर, ऐसी परिस्थितियां हो सकती हैं जो किसी कथानक का अविश्वास करने को विवश करें, यद्यपि सभी उपलब्ध साक्षियों ने उसी आशय के बयान दिए हों और वे साक्षी ऐसे हों कि जिस पक्षकार के विरुद्ध वे आक्षेप करते प्रतीत हों वह यह न दिखा सके कि वे स्वतंत्र नहीं हैं . (1957 क्रि.ला ज. 263)

विभिन्न निर्णयों से निम्नलिखित मार्गदर्शक सिद्धान्त प्रकट होंगे :–

(i) **अभियोजन का कर्तव्य :**

"अभियोजन अपने द्वारा कहे गए कथानक को ही साबित करने पर सफल हो सकता है . उसे अपने पैरों खड़ा होना होगा . वह सफाई की कमजोरी का लाभ नहीं उठा सकता और न न्यायालय अपनी ओर से अभियोजन के लिए एक नया मामला बनाकर उस आधार पर अपराधी को दोषी ठहरा सकता है ."

**– भगीरथ बनाम मध्य प्रदेश राज्य** – आ.इ.रि. 1976 सु.को. 975 : 1976 क्रि.ला ज. 706 .

"अभियोजन अपना मामला साबित करने के लिए अभियुक्त की चुप्पी की सहायता नहीं ले सकता ."

**नागप्पा डोडीवा बनाम कर्नाटक राज्य** – आ.इ.रि. 1980 सु को 1753 : 1980 क्रि.ला ज. 1270 .

(ii) **संदेह से परे ढंग से साबित करना :**

"यद्यपि यह आवश्यक है कि सभी दाण्डिक मामलों में सबूत ऐसा हो जो आरोप को युक्तियुक्त संदेह से रहित ढंग से साबित करे, यह आवश्यक नहीं है कि वह परिपूर्ण हो . युक्तियुक्त संदेह से रहित ढंग से साबित करने का सिद्धान्त एक मार्गदर्शक नियम है, केवल सनक नहीं . अपराधी केवल इस बात का आश्रय लेकर नहीं बच सकता कि मानवीय प्रक्रियाओं के द्वारा प्रकट किए जाने पर उसकी सत्यता में कोई कमी रह जाती है ."

**– इन्दर सिंह बनाम दिल्ली प्रशासन** – आ.इ.रि 1978 सु.को. 1091 : 1978 क्रि.ला ज. 766 .

"यदि दो मत संभव हों, एक अभियुक्त के दोषी होने का और दूसरा, उसके निर्दोष होने का तो अभियुक्त के अनुकूल मत अपनाया जाना चाहिए . पारिस्थितिक साक्ष्य पर आधारित मामलों को यह विशेष तौर पर लागू होता है ."

– कलीराम बनाम हिमाचल प्रदेश राज्य – आ.इ.रि. 1973 सु.को. 2773 : 1973 क्रि.ला ज. 1974(1) .

"कोई अभियुक्त केवल इस आधार पर दोषमुक्त नहीं किया जा सकता कि उसके सह-अभियुक्त को संदेह का लाभ दिया गया ."

– बलवीर कौर बनाम पंजाब राज्य – 1977 सु.को.के. 472 : 1977 क्रि ला ज. 273 .

(iii) गुणवत्ता, न कि मात्रा :

"साक्ष्य का गुणत्व देखा जाना चाहिए, न कि उसकी मात्रा . किसी कमजोर साक्षी का बयान केवल इस कारण विश्वसनीय नहीं हो जाता कि उसकी संपुष्टि उसी प्रकार के अनेक साक्षियों ने की है ."

"यदि अकेले साक्षी के बयान की संपुष्टि चिकित्सकीय साक्ष्य से हो जाए तो उस एकमात्र साक्षी के बयान को केवल इस कारण अमान्य नहीं किया जा सकता कि वह मृतक का भाई था ."

– एस पी. चोपले बनाम महाराष्ट्र राज्य – आ.इ.रि. 1976 सु.को. 557 : 1976 क्रि ला ज. 492 .

"यदि अकेलेप्र त्यक्षदर्शी साक्षी के बयान का समर्थन चिकित्सकीय साक्ष्य से हो जाए और वह घटना के वर्णन से मेल खाए तो ऐसे बयान को आंख मूंदकर माना जा सकता है ."

– गुरुनाम कौर बनाम बक्शीश सिंह – आ.इ.रि. 1981 सु.को. 631 : 1981 क्रि.ला ज. 34 .

"साक्ष्य के महत्व और उसकी गुणवत्ता पर ध्यान दिया जाना चाहिए, न कि साक्षियों की गिनती की जानी चाहिए ."

– इं. ला रि. 53 इला. 598 .

(iv) साक्षी की विश्वसनीयता :

"साक्ष्य को मानने या न मानने के लिए वास्तविक कसौटी यह है कि स्वयं कथानक में कहां तक संगतता है, साक्षी जिरह में कहां तक टिका है और स्वयं उसका बयान शेष साक्ष्य तथा मामले की

परिस्थितियों से कहां तक मेल खाता है ."

– भोजराज बनाम सीताराम – 1936 बिंबी काउन्सिल 60 .

"साक्षियों के प्रत्यक्ष साक्ष्य को परिस्थिति के आधार पर केवल तब अस्वीकार करना चाहिए जब कि विवादित तथ्य उस परिस्थिति से असंगत हो या उन परिस्थिति के कारण अनधिसंभाव्य हो जाए ."

मोहम्मद शमीम बनाम नसीम जहां बेगम - 1979 इला ला ज. 1285 .

"साक्ष्य का मूल्यांकन मूलभूत मानव अधिसंभाव्यताओं के आधार पर किया जाना चाहिए ."

–केरल राज्य बनाम एम. एम. मैथ्यू – आ.इं.रि. 1978 सु.को. 1971 : 1978 क्रि. ला ज. 1690 .

"विचारण न्यायालय साक्षी को अविश्वसनीय ठहरा सकता है यदि–

(क) उसका बयान स्वयं में अनधिसंभाव्य[1] हो या नैसर्गिक क्रम के प्रतिकूल हो;

(ख) उसके बयान में एक-दूसरे की विरोधी अथवा असंगत बातें कही गई हों;

(ग) वह विरोधी पक्षकार का कट्टर शत्रु पाया गया हो और इस कारण उसे उसका बुरा करने के लिए पर्याप्त हेतु हो;

(घ) यदि बयान के दौरान साक्षी की भावभंगी असामान्य या असंतोषप्रद पाई जाए ."

–उत्तर प्रदेश राज्य बनाम मुरली – आ.इं.रि. 1957 इला. 53 : 1957 क्रि. ला ज. 32 .

"साक्षी की विश्वसनीयता का विनिश्चय प्रथमतः उसके बयान को देखकर तथा यह देखकर होना चाहिए कि उसने जिरह का किस प्रकार सामना किया और मामले के अन्य तथ्यों के संदर्भ में उसका

---

1. improbable.

बयान कितना मान्य है ."

-चरन सिंह बनाम पंजाब राज्य – आ.इं.रि. 1975 सु.को. 246 : 1974 क्रि. ला ज. 1253 .

(v) अंशतः विश्वसनीय साक्षी :

"जब साक्षी न तो पूर्णतः विश्वसनीय हो और न पूर्णतः अविश्वसनीय तो न्यायालय उसके बयान की संपुष्टि किसी स्वतंत्र साक्ष्य या परिस्थिति से चाहता है . झूठे या संदिग्ध साक्षी के बयान की संपुष्टि उसी प्रकार के अन्य साक्षी के बयान से नहीं हो सकती ."

-उत्तर प्रदेश राज्य बनाम तुलाराम – आ इं रि. 1960 इलाहाबाद 585; गुलबा बनाम मध्य प्रदेश राज्य – आ इं रि. 1976 सु.को. 989 .

"इस सिद्धान्त को यंत्रवत् लागू नहीं किया जा सकता कि बयान में एक बात झूठी है तो सब बातें झूठी हैं . यदि किसी साक्षी के बयान का एक अंश अविश्वसनीय हो तो संपूर्ण बयान छोड़ा नहीं जा सकता . न्यायालय को चाहिए कि सत्य को झूठ से यथासंभव अलग करे . इसी को साक्ष्य की छानबीन करना या छिलके को दाने से अलग करना कहते हैं ."

-बलाका सिंह बनाम पंजाब राज्य – आ इं.रि. 1975 सु. को. 1962 : 1975 क्रि. ला ज. 1734;

-लक्ष्मण बनाम महाराष्ट्र राज्य – आ इं रि 1974 सु को. 308 : 1974 क्रि. ला ज. 369;

-भीमराव बनाम महाराष्ट्र राज्य – आ.इं.रि. 1980 सु.को. 1322 : 1980 क्रि ला ज. 958 .

(vi) पुलिस द्वारा पूछताछ में विलम्ब :

"यदि पुलिस ने साक्षियों की परीक्षा बहुत विलम्ब से की हो तो वह निश्चय ही एक ऐसी परिस्थिति होती है जिसको इस बात के लिए विचार में लिया जाना चाहिए कि उन साक्षियों के न्यायालय के समक्ष बयान माने जाएं या नहीं ."

-ऐतबारुद्दीन बनाम उत्तर प्रदेश राज्य – आ.इं.रि. 1974 सु.को. 1901 : 1974 क्रि. ला ज. 1300 .

(vii) **कमियां और असंगतियां :**

"किसी भी साक्षी का ऐसा बयान विरला ही होगा जिसमें असत्य की सजावट न हो, भले ही उसके बयान का मुख्य अंश सत्य हो . यह न्यायालय का कर्तव्य है कि दाने को छिलके से अलग करे तथा सत्य लगने वाले अंश को मानकर शेष को अमान्य कर दें . हां, जब बयान का अंतरतम भाग तक कलुषित हो तो न्यायालय को चाहिए कि संपूर्ण बयान अमान्य कर दे ."

–उत्तर प्रदेश राज्य बनाम शंकर – आ.इं.रि. 1981 सु.को. 897 : 1981 क्रि. ला ज. 23 .

"यह स्मरणीय है कि सुनने, देखने, याद करने और वर्णन करने की मानवीय शक्ति अनिवार्यतः अपूर्ण होती है . यह बात सामान्य मनुष्यों के बयानों की समीक्षा और मूल्यांकन करते समय विचारण न्यायालयों को ध्यान में रखनी चाहिए ."

–मंगत बनाम उत्तर प्रदेश राज्य – आ.इं.रि. 1967 इला. 204 : 1967 क्रि. ला ज. 598 .

(viii) **घायल साक्षी :**

"साक्षी की चोटें इस बात की ज्ञापक होती हैं कि वह घटना के समय उपस्थित था और उनसे यह लगभग स्पष्ट होता है कि उसने घटना देखी . किन्तु उनसे इस बात की गारण्टी नहीं होती कि वह जो कह रहा है वह सही है, या कि उसके द्वारा नाम लिए गए प्रत्येक अभियुक्त ने घटना में भाग लिया . उसके बयान की समीक्षा गुणागुण के आधार पर की जानी चाहिए .

–नन्द सिंह बनाम पंजाब राज्य – आ.इं.रि. 1980 सु.को. 2128 : 1980 क्रि. ला ज. 1478 .

(ix) **अभियुक्त की चोटों का स्पष्टीकरण न होना :**

"जब अभियोजन पक्ष अभियुक्त की चोटों का स्पष्टीकरण न दे तो उस मामले की परिस्थितियों के अनुसार उससे निम्नलिखित तीन निष्कर्षों में से कोई भी निकाला जा सकता है :

1. कि अभियुक्त ने अभियोजन पक्ष के व्यक्तियों को चोट

आत्मरक्षा के अधिकार के प्रयोग में पहुंचाई;

2. उससे घटना का अभियोजन कथानक संदिग्ध हो जाता है और यह नहीं ठहराया जा सकता कि अभियुक्त के विरुद्ध आरोप उचित संदेह से रहित ढंग से साबित हो गया है; तथा

3. उससे अभियोजन कथानक बिल्कुल भी प्रभावित नहीं होता."

– लक्ष्मी सिंह बनाम बिहार राज्य – आ.इ.रि. 1976 सु.को. 2263 : 1976 क्रि. ला ज. 1736.

(x) **पुलिस साक्षियों के बयान :**

"पुलिस साक्षियों के बयान पर विचार उसी प्रकार किया जाना चाहिए जिस प्रकार अन्य साक्षियों के बयानों पर किया जाता है, सिवाय उस दशा के जबकि यह दिखाया जाए कि अभियुक्त को झूठा फसाने के लिए उनका कोई हेतु था."

नाथू सिंह बनाम मध्य प्रदेश राज्य – आ.इ.रि. 1973 सु.को. 2783 : 1974 क्रि. ला ज. 11.

(xi) **चिकित्सकीय और मौखिक साक्ष्य में विरोध :**

"जहां कि चिकित्सकीय साक्ष्य और अन्य साक्षियों के बयानों में विरोध हो वहां साक्ष्य का मूल्यांकन केवल दो प्रकार से किया जा सकता है : न्यायालय या तो अभियोजन साक्षियों का पूर्णतः विश्वास कर सकता है और विरोध का यह कहकर स्पष्टीकरण दे सकता है कि साक्षियों ने घटना को कुछ बढ़ाचढ़ाकर कहा है. अथवा वह चिकित्सकीय साक्ष्य का विश्वास कर सकता है और अन्य साक्षियों के बयानों की समीक्षा चिकित्सकीय साक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए सावधानी से कर सकता है. पहला तरीका उन मामलों में ही अपनाया जा सकता है जहां कि मौखिक साक्ष्य आलोचना से परे हो तथा विश्वास उत्पन्न करे और अभियुक्त को झूठा फसाने के लिए कोई मान्य कारण न हो."

"यदि मौखिक साक्ष्य उतनी गुणवत्ता वाला न हो तो उस विरोध का फायदा अभियुक्त को मिलेगा."

-अजमेर सिंह बनाम पंजाब राज्य – आ.इ.रि. 1977 सु.को. 1078 : 1977 क्रि. ला ज. 659; मोहर सिंह बनाम पंजाब राज्य – आ.इ.रि.

1981 सु.को. 1578 : 1981 क्रि. ला ज. 998; **ठाकुर बनाम उत्तर प्रदेश राज्य** - आ.इं.रि. 1955 इला 189 .

(xii) **दलबन्दी :**

"दलों में परस्पर स्पर्धा और शत्रुता होने पर प्रायः प्रवृत्ति यह होती है कि हमला करने वालों के रूप में यथासंभव अधिकतम व्यक्तियों को फंसाया जाए . अतः न्यायालय को चाहिए कि ऐसे मामलों में साक्ष्य की समीक्षा सतर्कतापूर्वक करे और यदि कोई संदेह उत्पन्न हो तो उसका फायदा अभियुक्त को दे ."

**-बलदेव सिंह बनाम बिहार राज्य** - आ इ.रि. 1972 सु. को. 464 : 1972 क्रि. ला ज. 262 .

(xiii) **प्रेरित बयान :**

'प्रेरित करके कराया गया बयान साक्ष्य की दृष्टि से कमजोर होता है . और यदि वह भूमिका किसी अभियुक्त के सिर झूठे तौर पर मढ़ने के लिए कारण हो तो उसको उसका फायदा दिया जाना चाहिए ."

**-अंजुलहक बनाम बिहार राज्य** – आ इ रि 1974 सु.को 45 : 1974 क्रि. ला ज. 143; **त्रिलोक चन्द जैन बनाम दिल्ली राज्य** – आ.इं.रि. 1977 सु.को. 666 : 1977 क्रि. ला ज. 254; **उमाशंकर बनाम उत्तर प्रदेश राज्य** – आ.इं.रि. 1979 सु.को. 1456 : 1979 क्रि.ला ज. 1119 .

(xiv) **सह-अपराधी और इकबाली साक्षी :**

"सह-अपराधी या इकबाली साक्षी का बयान संपुष्टि के बिना नहीं माना जा सकता ."

**-कानन बनाम केरल राज्य** – आ. इं. रि. 1979 सु.को. 1127 : 1979 क्रि. ला ज. 919 .

(xv) **आकस्मिक साक्षी :**

"आकस्मिक साक्षी वह होता है जो कि सामान्य क्रम में वहां उपस्थित नहीं होगा जहां वह अपने को उपस्थित होना बताता है . यह आवश्यक नहीं है कि ऐसा साक्षी झूठा ही हो; किन्तु उसका बयान मानने में जल्दी नहीं होनी चाहिए . यदि वह घायल व्यक्ति का संबंधी या मित्र हो और अभियुक्त के प्रति वैमनस्य रखता हो तो

उसका बयान संदेह की दृष्टि से देखा जाना चाहिए ."

-बहल सिंह बनाम हरियाणा राज्य - आ.इ.रि. 1976 सु.को. 2032 : 1976 क्रि. ला ज. 1568 .

(xvi) **बाल साक्षी :**

' उसका बयान शपथ पर तभी लिया जाना चाहिए जबकि न्यायालय का समाधान हो जाए कि वह शपथ की गरिमा को समझता है . बालकों को सिखाया जा सकता है . वे सरलता से विश्वास करने की दुनिया में रहते हैं . उनके बयानों की समीक्षा सावधानी से की जानी चाहिए . यदि समीक्षा करने पर उनके बयान खरे उतरें तो उनका विश्वास किया जा सकता है ."

-केटानो पीडेड फर्नांडिस बनाम गोवा संघ राज्यक्षेत्र - आ.इ.रि. 1977 सु.को. 135 : 1977 क्रि. ला ज. 167; दलीप सिंह बनाम पंजाब राज्य - आ.इ.रि. 1979 सु.को. 1173 : 1979 क्रि ला ज. 700 .

(xvii) **पक्षद्रोही[1] साक्षी :**

"जिस साक्षी को पेश करने वाला पक्षकार ही उसे पक्षद्रोही[1] घोषित कर दे उसका बयान पूर्णतः अमान्य नहीं किया जा सकता है . उसकी सावधानी से परीक्षा करने के उपरान्त यदि वह मान्य पाया जाए तो उसका विश्वास किया जाना चाहिए ."

-सय्यद अकबर बनाम कर्नाटक राज्य - आ.इ.रि. 1979 सु.को. 1843 : 1979 क्रि. ला ज. 1374 .

(xviii) **मृत्युकालिक कथन[2] :**

"यदि समीक्षा करने के उपरान्त न्यायालय पाए कि मृत्युकालिक कथन[2] सही है तो वह अभियुक्त को किसी अन्य संपुष्टि[3] के बिना केवल उस कथन के आधार पर ही दोषी ठहरा सकता है ."

-खुशा बनाम उड़ीसा राज्य - आ.इ.रि. 1980 सु.को. 559 : 1980 क्रि. ला ज. 408 .

(xix) **हेतु[4] :**

"यह सही है कि जब तक अभियुक्त पागल न हो वह कोई

---

1. hostile.
2. dying declaration.
3. corroboration.
4. motive.

गम्भीर अपराध किसी हेतु अथवा वास्तविक या काल्पनिक व्यथा के बिना नहीं करेगा . किन्तु मनुष्यों के हेतु बहुधा व्यक्तिगत होते हैं जो मानव अन्तस्तल में दबे रहते हैं और उन्हें आसानी से साबित नहीं किया जा सकता . हेतु एक दुधारा हथियार होता है . अतः जब प्रत्यक्ष साक्ष्य हो तब हेतु पृष्ठभूमि में चला जाता है . किन्तु पारिस्थितिक साक्ष्य के मामले में वह महत्त्वपूर्ण हो जाता है ."

-महाराष्ट्र राज्य बनाम नसीम खां अहमद खां, आदि – आ.इ.रि. 1971 सु.को. 381 : 1971 क्रि. ला ज. 311; शिवाजी साहेब राव बनाम महाराष्ट्र राज्य – आ इ.रि. 1973 सु.को. 2622 : 1973 क्रि ला ज 1783; रघुनन्दन बनाम उत्तर प्रदेश राज्य – आ.इ.रि. 1974 सु.को. 463 : 1974 क्रि. ला ज. 453; राजिन्दर कुमार बनाम पंजाब राज्य – आ इ रि. 1966 सु.को. 1322 : 1966 क्रि. ला ज 960 .

उपर्युक्त मार्गदर्शन ऐसी कुछ परिस्थितियों के सम्बन्ध में है जो मौखिक साक्ष्य के मूल्यांकन में सामने आती हैं . न्यायिक अधिकारियों के रूप में आपको अन्य अनेक परिस्थितियों का भी सामना करना होगा, जो ऊपर नहीं बताई गई हैं . उन परिस्थितियों का सामना आपको अपने ज्ञान, अनुभव और बुद्धि के आधार पर करना होगा . अतः यह प्रत्येक न्यायिक अधिकारी के लिए उचित है कि परिचालन में उसके पास आने वाली विधि पत्रिकाओं के आधार पर वह अपना डाइजेस्ट बनाता रहे . किसी भी विधि-प्रश्न का निर्णय उस विषय में विधि का अध्ययन किए बिना नहीं करना चाहिए . समान परिस्थितियों में आदेश भी समान होने चाहिए . निर्णय लिखते समय अविश्वसनीय साक्षियों के बयान शिष्ट भाषा में अमान्य किए जाने चाहिए . कठोर, अनुदार और विश्लेषण के बिना व्यापक टिप्पणियां नहीं की जानी चाहिए . तभी आपके कार्य में लोगों का विश्वास जागेगा .

उच्चतम आसन पर अपनी नजर रखें . न्यायिक अधिकारी के रूप में आपके सफल जीवन के लिए हमारी शुभकामनाएं .

[उत्तर प्रदेश न्यायिक प्रशिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान में वार्ता से]

---

न्यायिक प्रशिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान, उत्तर प्रदेश, लखनऊ की ओर से उसके अवैतनिक निदेशक श्री कैलाश नाथ गोयल द्वारा प्रकाशित एवं मयूर प्रिंटर्स, सी-119, निराला नगर, लखनऊ फोन : 73423 द्वारा मुद्रित .